शिविरों का क्रम

१. दर्शन का नया आयाम

   १० अक्टूबर १९७७ से १९ अक्टूबर १९७७ तक, लाडनू (राज०)

२. शक्ति-जागरण

   १० मार्च १९७८ से १९ मार्च १९७८ तक, लाडनू (राज०)

३. मानसिक-प्रशिक्षण

   १ जून १९७८ से ९ जून १९७८ तक, लाडनू (राज०)

अनुक्रम

दर्शन का नया आयाम

शक्ति-जागरण

दर्शन का नया आयाम

१. अस्तित्व की खोज : सम्यग्दर्शन

- अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे। [आयारो, ३।३४]
- पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे। [आयारो, ६।५]
- से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते, पच्छन्नपलासे, उम्मग्गं से णो लहई। [आयारो, ६।६]

  - हे धीर! तू दुःख के अग्र और मूल का विवेक कर।
  - तुम देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य हैं वे अवसाद को प्राप्त हो रहे हैं।
  - मैं कहता हूं—जैसे एक कछुआ है और एक द्रह है। कछुए का चित्त द्रह में लगा हुआ है। वह द्रह सेवाल और पद्मपत्रों से आच्छन्न है। वह कछुआ मुक्त आकाश को देखने के लिए विवर को प्राप्त नहीं हो रहा है।

- मुझे पता है कि आप सफल जीवन जीने के लिए—
  - स्वास्थ्य चाहते हैं।
  - दीर्घायु चाहते हैं।
  - सुख चाहते हैं।
  - शान्ति चाहते हैं।

विवेक के बिना शान्ति नहीं।
शान्ति के बिना सुख नहीं।
सुख के बिना स्वास्थ्य नहीं।
स्वास्थ्य के बिना दीर्घायु नहीं।

- मन अचेतन है। मैं मन नहीं हूं।
- भाषा अचेतन है। मैं भाषा नहीं हूं।
- जब ये सब शान्त होते हैं तब अस्तित्व का दर्शन होता है। इनकी ऊर्मियों के नीचे जो है वह है—अस्तित्व।
- सम्यग्दर्शन के पांच फलित—
  - शान्ति, मुक्ति की चेतना, अनासक्ति, अनुकम्पा, सत्य के प्रति समर्पण।
- आत्मा द्वारा आत्मा का दर्शन
  - श्वास-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - शरीर-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - मन-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - वेदना-स्पन्दन—आत्मा का एक हिस्सा।
  - फिर आभामण्डल, फिर प्राण-दर्शन, फिर चैतन्य-दर्शन।
- द्रष्टा कौन? दृश्य कौन?
  - चेतना विभक्त इसलिए सूक्ष्म चेतना द्रष्टा और स्थूल चेतना दृश्य।

□□

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। बड़ा विचित्र-सा लगता है। कौन देखने वाला और कौन दृश्य ! कौन देखे ? किसे देखे ? बहुत बड़ा प्रश्न है। किन्तु जब हमारी देखने वाली चेतना, द्रष्टाचेतना खंडित होती है तब उसके दो खंड हो जाते हैं—एक देखने वाली चेतना और एक दृश्य।

श्वास को देखो। मन को देखो। शरीर को देखो। विचार को देखो। आभामंडल को देखो। प्राण को देखो। आप जानना चाहेंगे कि क्या श्वास आत्मा है ? क्या शरीर आत्मा है ? क्या मन आत्मा है ? क्या आभामंडल आत्मा है ? क्या प्राण आत्मा है ? कुछ चिन्तन करेंगे तो पता चलेगा कि श्वास आत्मा है। शरीर आत्मा है। मन आत्मा है। आभामंडल आत्मा है। प्राण आत्मा है। यदि प्राण आत्मा न हो तो फिर जीवित और मृत में कोई अन्तर नहीं रहेगा। यदि शरीर आत्मा न हो तो जीवित शरीर और मृत शरीर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। यदि मन आत्मा न हो तो मन-सहित और मन-रहित में कोई अन्तर नहीं रहेगा। ये सब आत्मा हैं।

आत्मा को देखने का पहला द्वार है—श्वास। भीतर की यात्रा का पहला द्वार है—श्वास। हम बाहर ही बाहर देखते हैं। मन बाहर की ओर दौड़ता है। जब भीतर की यात्रा शुरू करनी होती है, तब प्रथम प्रवेश-द्वार श्वास से गुजरना होता है। जब श्वास के साथ मन भीतर जाने लगता है तब अन्तर्यात्रा शुरू होती है। श्वास आत्मा है, शरीर आत्मा है, मन आत्मा है। जहां तक हम पहुंचना चाहते हैं वहां तक इनके द्वारा ही पहुंचा जा सकता है।

श्वास का स्पर्श किए बिना, श्वास को देखे बिना शरीर को ठीक तरह से नहीं समझ सकते, नहीं देख सकते। शरीर को देखे बिना मन को नहीं देख सकते। मन को देखे बिना आभामंडल को नहीं देख सकते। आभामंडल को देखे बिना प्राण को नहीं देख सकते और प्राण को देखे बिना उस चैतन्य तक नहीं पहुंच सकते जहां हमें पहुंचना है। यह पूरा का पूरा यात्रापथ है। यदि आत्मा तक पहुंचना है, सूक्ष्म तत्त्व तक पहुंचना है, अस्तित्व तक पहुंचना है तो इसी यात्रा-पथ पर चलना होगा। इसी क्रम से चलना होगा।

आप चाहें कि सीधे आत्मा को ही देख लें—यह भ्रांति होगी। मैं कहूं कि 'आत्मा को देखें'—यह भी भ्रांति होगी। आप यह मान लें कि उस परम सत्ता को, परम अस्तित्व को, चैतन्य को जो अमूर्त है, सूक्ष्म है, हमारे चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है, उसे हम देख लें—यह कहना और ऐसा समझना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी।

'आत्मा से आत्मा को देखें।'

इसका पहला अर्थ है—मन के द्वारा श्वास के स्पंदनों को देखें।

इसका दूसरा अर्थ है—मन के द्वारा शरीर के प्रकंपनों को, संवेदनों

स्थूल संवेदन ही पकड़ में आते हैं। मन जैसे सूक्ष्म होगा, चैतन्य की धारा जैसे तेज होगी, सूक्ष्म संवेदन पकड़ में आने लग जाएंगे।

शरीर में हृदय की धड़कन हो रही है, रक्त का संचार हो रहा है, वायु का संचार हो रहा है। शरीर के सारे अवयव सक्रिय हैं। शरीर के समस्त तंत्र में सक्रियता है। शरीर-यंत्र चल रहा है, मानो कि कोई विद्युत्-चालित फैक्टरी चल रही हो। फिर भी मनुष्य को कुछ भी पता नहीं है। वह जान ही नहीं पाता कि कुछ हो रहा है। इसका कारण है कि वह संवेदनों को पकड़ ही नहीं पाता। बहुत गहरा ध्यान देने पर ही पता चलता है कि शरीर के भीतर कितनी सक्रियता है। श्वास चल रहा है। रक्त का संचरण हो रहा है। हृदय धड़क रहा है। सूक्ष्म हुए बिना इन सबका पता ही नहीं चलता। हमारा मन भी इतना स्थूल हो गया है कि वह स्थूल को ही पकड़ पाता है, सूक्ष्म को नहीं पकड़ पाता। सूक्ष्म को पकड़ने के लिए मन को सूक्ष्म बनाना पड़ता है। साधना का क्रम मन को सूक्ष्म बनाने का क्रम है। मन की यात्रा जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाएगी मन सूक्ष्म होता जाएगा और फिर हम सूक्ष्म को पकड़ने में सक्षम हो जाएंगे। जब सूक्ष्म की पकड़ होगी तब स्थूल संवेदन छूटते जाएंगे और सूक्ष्म संवेदन स्पष्ट होते जाएंगे।

मन को देखने से क्या होगा? यह एक प्रश्न है। मन को देखने का परिणाम है—संयम। मन को देखने से संयम निष्पन्न होता है। हमने पदचिह्न रहित मार्ग चुना है। उस पर चलने लगे हैं। मन को देखना शुरू किया तो फिर अपने-आप दृष्टि-संयम हो जाएगा। दृष्टि संयत होगी। मन बाहर नहीं जाएगा। वह भटकेगा नहीं। वह एक बिन्दु पर आकर टिक जाएगा। सहज ही संयम हो जाएगा।

हमारी यात्रा बहुत छोटी है, बड़ी नहीं है। भय न लगे। कहां से चलना है? कहां पहुंचना है! छोटा-सा मार्ग है। यात्रा छोटी और यात्रा-पथ भी छोटा। किन्तु हम देखते नहीं, देखना जानते नहीं, इसलिए रास्ता बड़ा लगता है।

यात्रा बहुत छोटी है। आपको केवल इस बिन्दु पर पहुंचना है—'मैं ज्ञाता हूं। मैं द्रष्टा हूं।' यहां पहुंचते ही आपकी यात्रा संपन्न हो जाती है। कितनी छोटी यात्रा है! यात्रा छोटी, उसका पथ भी छोटा और उसका वाहन भी एक—छोटा। बहुत वाहन नहीं हैं, एक ही वाहन है। वह वाहन है—प्राणधारा।

हम दो तटों के बीच जी रहे हैं—एक है ज्ञाताभाव, द्रष्टाभाव और दूसरा है तैजस, प्राण की धारा। जब हमारी प्राण की धारा का प्रवाह ज्ञाता और द्रष्टाभाव से हटकर दूसरी ओर बहने लगता है तब हमारी यात्रा का मार्ग बहुत लंबा हो जाता है। दूरी बढ़ती चली जाती है, व्यवधान आते चले जाते हैं, पर्दे पर

है ? किस दिशा में बह रहा है ? यह दिशा-परिवर्तन का प्रश्न है। यह रूपान्तरण का प्रश्न है। व्यक्ति चाहता है कि उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो। किन्तु रूपान्तरण तब तक घटित नहीं होता जब तक कि प्राण की धारा के प्रवाह को मोड़ा नहीं जाता। जब तक उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं लाएंगे तब तक रूपान्तरण की बात घटित नहीं होगी।

धर्मशास्त्रों और धर्माचार्यों ने जो धर्म का सूत्र दिया, साधना का सूत्र दिया, योग का सूत्र दिया वह केवल जानने के लिए नहीं दिया। कुछ लोग यह मानते हैं कि धर्म और दर्शन केवल जीवन का दर्शन देते हैं, मार्ग बतलाते हैं, किन्तु रूपान्तरण नहीं करते। यह भ्रान्त धारणा है। कोई भी साधना का सूत्र जीवन को नहीं बदलता और केवल तत्त्व की ही बात बतलाता है तो वह सही अर्थ में धर्म का सूत्र नहीं होगा, अध्यात्म का सूत्र नहीं होगा, साधना का सूत्र नहीं होगा। समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की बात मैं नहीं कह रहा हूं और संभवतः उसके लिए अध्यात्म के सूत्र नहीं दिए गए। किन्तु प्रत्येक अध्यात्म के सूत्र के द्वारा जीवन का रूपान्तरण न हो, ऐसा हो नहीं सकता। अध्यात्म-सूत्र में दिशा का परिवर्तन होता है और दिशा-परिवर्तन से व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। सारा स्वभाव बदल जाता है, समूचा दृष्टिकोण बदल जाता है, सारी धारणा बदल जाती है। व्यक्ति इतना रूपान्तरित हो जाता है कि उसे लगने लगता है—क्या मैं वही हूं ? या मेरे शरीर में कोई दूसरी चेतना प्रविष्ट हो गयी ? अपने-आपको आश्चर्य होने लगता है।

हमारा यात्रा-पथ छोटा है। हमें ज्ञाता और द्रष्टाभाव तक पहुंचना है और पहुंचना है एक साधन के द्वारा। वह साधन यह है कि हम प्राण की धारा को उस दिशा में प्रवाहित करें। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है जिसका आलंबन लेकर हम उस स्थिति तक पहुंच जाएं। बीच का सारा क्रम उसे समझाने के लिए, प्रवाह को मोड़ने के लिए है।

कुछ मनुष्य ज्ञाता और द्रष्टाभाव को उतना नहीं चाहते। उन्हें इसका अर्थ भी उतना आकर्षक नहीं लगता। वे चाहते हैं—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शांति। प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज के परिप्रेक्ष्य में जीता है, स्वास्थ्य चाहता है। उसकी कामना होती है—स्वस्थ रहूं, दीर्घायु बनूं। मरना पड़ता है, फिर भी जितना जिया जा सके, वह उतना जीना पसन्द करता है। दीर्घायु चाहता है, पर दु:खमय दीर्घायु नहीं चाहता। वह सुख चाहता है और साथ-साथ शांति भी चाहता है। किन्तु क्या विवेक के बिना शांति संभव है ? क्या शांति के बिना सुख संभव है ? क्या शांति के बिना दीर्घायु और स्वास्थ्य संभव है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। आपकी चाह का रास्ता अलग है और प्राप्ति का रास्ता उल्टा है। चाह का क्रम है—स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शांति। किन्तु चलना पड़ेगा

और द्रष्टा भाव के लिए यात्रा प्रारभ की थी वह यात्रा सपन्न हो जाती है। यह हमारी यात्रा की मजिल है। इसमे हमारा स्वरूप प्रकट हो जाता है। हमारा स्वरूप है—सिद्ध, बुद्ध और मुक्त।

इस यात्रा-पथ का पहला ज्योतिस्तभ है—विवेक। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा की समूची साधना विवेक-जागरण के लिए है। जब तक विवेक जागृत नही होता तब तक आगे नही बढ़ा जा सकता। दो बातें हैं—ज्ञाता-द्रष्टाभाव और प्राण-शक्ति। इन दोनों के बीच में है—सघन मूर्च्छा का चक्रव्यूह। इसके रहते हुए कोई भी आगे नही बढ़ सकता। मूर्च्छा ने अपनी सुरक्षा के लिए चार रक्षापक्तिया बना रखी है :

१. पहली रक्षापक्ति है—आवेग, उत्तेजना।
२. दूसरी रक्षापक्ति है—प्रमाद, विस्मृति।
३. तीसरी रक्षापक्ति है—आकांक्षा, इच्छा।
४. चौथी रक्षापक्ति है—अविवेक।

यदि पहले ही यह प्रयत्न हो कि हम प्रियता और अप्रियता के भाव को समाप्त कर दें, राग-द्वेष को समाप्त कर दें, और अपने आत्म-अस्तित्व तक पहुच जाए, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लें तो यह दुःसाहस होगा। वहा तक हम पहुच ही नही पाएंगे। हमें एक क्रम से चलना होगा। अविवेक सबसे सघन रक्षापक्ति है। इसको तोड़े बिना आगे नही बढ़ा जा सकता। उसको तोड़ने के बाद शेष तीन रक्षापक्तिया अपने-आप टूट जाती हैं, क्योंकि ये इतनी सुदृढ़ नहीं हैं जितनी कि अविवेक की रक्षापक्ति है। अविवेक की रक्षापक्ति पर प्रहार करना दुर्ग पर पहला प्रहार होगा। आप प्रहार करना चाहते हैं, सभी रक्षापक्तियो का भेदन करना चाहते हैं और उन्हें भेद कर अपने अस्तित्व तक पहुचना चाहते हैं। किन्तु प्रश्न है कि यह कैसे किया जाए? उसकी प्रक्रिया क्या है? अभ्यास का क्रम क्या है? साधना क्या है?

इस साधना के दो प्रयोग हैं। एक है—विवेक-प्रतिमा का और दूसरा है—कायोत्सर्ग प्रतिमा का। तीन या छह महीने तक इनका प्रयोग चले। चैतन्य के जागरण में निश्चित ही सफलता मिलेगी।

विवेक-प्रतिमा

कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठें या खड़े रहें। मन को शान्त करें। चिन्तन या विचार के स्तर पर नहीं किन्तु अनुभव के स्तर पर चलें। विचार के स्तर मे तथा अनुभव के स्तर मे बहुत बड़ा अन्तर है। विचार सतही होता है। उसमे गहराई नहीं होती। एक आता है, दूसरा चला जाता है। जब अनुभव की गहराई मे पहुच जाते हैं तब उसमे तन्मयता आ जाती है और एक तादात्म्य सबध जुड़ जाता है।

२. प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास : संयम

- सजमति णो पगब्भति । [आयारो, ५।५१]
- एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे, निव्विन्नचारी—[आयारो, ५।५४]

  - मुमुक्षु इन्द्रियों का सयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।
  - मुमुक्षु अपने लक्ष्य की ओर मुख किए चले। वह चेतना-जागरण की विरोधी दिशाओं का पार पा जाए, पदार्थ के प्रति विरक्त रहे।

- निमित्त से बचें या उपादान को निर्मल करें।
- हेय-उपादेय का विवेक होने पर हेय का प्रत्याख्यान होता है।
- अतीत का प्रतिक्रमण और अनागत का प्रत्याख्यान।
  - अनागत का प्रत्याख्यान होने पर वर्तमान का सवर स्वय, फिर अतीत की शुद्धि।
- अपने केन्द्र या धुरी से खिसकी हुई चेतना का अपने केन्द्र पर लौट आना।
- प्रत्याख्यान मूर्च्छा के व्यूह पर दूसरा प्रहार है।
- प्रत्याख्यान और सवर के बीच का तत्त्व है—सयम।
  सयम से प्रत्याख्यान सिद्ध होता है और सवर निष्पन्न।
  सयम साधना है और सवर निष्पत्ति।

- सयम की साधना के आयाम
  - अस्पर्श—विषय का स्पर्श न करें।

हमारे अस्तित्व के दो महास्रोत हैं—शक्ति और चेतना। चेतना के द्वारा हम ज्ञान को प्रकाशित करते हैं और अपने-आप भी प्रकाशित होते हैं। शक्ति के द्वारा चेतना का उपयोग होता है। यदि शक्ति न हो तो चेतना हो सकती है, पर उसका उपयोग नहीं हो सकता। मस्तिष्क के होने पर भी यदि प्राणशक्ति स्वस्थ नहीं है तो मस्तिष्क का कोई उपयोग नहीं हो सकता। इन्द्रिय-चेतना है पर यदि उसके साथ प्राण-ऊर्जा का योग नहीं है तो इन्द्रिय-चेतना का कोई उपयोग नहीं हो सकता। शक्ति का स्वस्थ योग मिलने पर ही चेतना काम कर सकती है।

शक्ति का विकास और चेतना का विकास—दोनों साथ-साथ चलते हैं। शक्ति का विकास प्रत्याख्यान के द्वारा हो सकता है। विवेक-चेतना के जागरण पर जो पहली प्रतिक्रिया होती है वह है प्रत्याख्यान। जैसे ही विवेक-चेतना जागती है, हेय और उपादेय—दोनों जान लिए जाते हैं। इस स्पष्ट ज्ञान के बाद जो हमारी प्रतिक्रिया होती है, वह है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना। प्रत्याख्यान हो सकता है शक्ति के प्रयोग के द्वारा।

शक्ति का एक रूप है—संकल्प। संकल्प अर्थात् इच्छाशक्ति। दो आदमी हैं। एक बैठा है, दूसरा चल रहा है। प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? दोनों क्यों नहीं चल रहे हैं? दोनों क्यों नहीं बैठे हैं? इस अन्तर के पीछे एक शक्ति जो काम कर रही है, वह है इच्छाशक्ति। प्राणी में इच्छाशक्ति होती है। वह अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, कोई कार्य करता है, कोई कार्य नहीं करता। इच्छा होती है तब चलने लग जाता है। इच्छा होती है तब बैठ जाता है। इच्छा होती है तब बोलने लग जाता है। इच्छा होती है तब मौन हो जाता है। इच्छा होती है तब खाने बैठ जाता है और इच्छा होती है तब आराम

पहुंचाता है और मस्तिष्क हाथ के ज्ञानवाही तंतुओं को आदेश देता है कि कांटे को निकालो। हाथ उस कार्य में तत्पर हो जाता है।

यह समूचा नाड़ी-संस्थान साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। साधक यदि नाड़ी-संस्थान को नहीं समझता है तो वह साधना में सफल नहीं हो सकता।

हम प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना। इससे संयम हो गया। क्या छोड़ देने मात्र से संयम हो गया ? आपने संकल्प-शक्ति को जागृत कर लिया। आपने संकल्प कर लिया कि आज से मैं वह नहीं करूंगा जो पहले रता था। यह संयम हो गया, किन्तु संकल्पशक्ति का एक ही काम नहीं है। केवल यम होना ही पर्याप्त नहीं है। उसकी सिद्धि होनी चाहिए। उसकी सिद्धि के नए और बहुत कुछ करना होता है। संयम किया, संवर हो गया। अनागत का त्याख्यान किया, वर्तमान का संवर हो गया। किन्तु अनागत का प्रत्याख्यान ष्ट कैसे हो ? क्या केवल संकल्प के सहारे लंबी यात्रा की जा सकती है ? संकल्प दरवाजे तो बन्द हो गए, किन्तु भीतर जो कूड़ा-करकट जमा हुआ था, उसे कालना भी आवश्यक होता है। उसे निकालने की प्रक्रिया के दो रूप हैं। एक निमित्तों से संबंधित और दूसरी है उपादान से संबंधित।

संयम की साधना प्रारंभ कर दी। निमित्त आते हैं और मन को आन्दोलित कर देते हैं। कोई गाली आती है, मन आंदोलित हो जाता है। कोई प्रशंसा आती है, मन आंदोलित हो जाता है। कोई शब्द, रूप, रस और गंध आती है, मन आंदोलित हो जाता है। संयम को धक्का लगने लगता है। क्या हम निमित्तों से बच सकते हैं ? संयम की साधना में एक अभ्यास चालू किया गया कि निमित्तों से बचो, विषयों का प्रत्याख्यान करो, विषयों से बचो। ऐसा करना कोई कठिन बात नहीं है, साधारण बात है।

बच्चा ऊधम मचा रहा है। मां ने उसे चांटा मारा। चांटा मारते ही मां के स्नायु-संस्थान में आवेग का अंकन हो जाता है। अब वह संस्कार बन जाता है। जब भी ऐसा प्रसंग आता है, न चाहते हुए भी हाथ उठ जाता है।

निमित्तों का बड़ा महत्त्व है। नाड़ी-संस्थान जिस बात को पकड़ लेता है फिर वह प्रत्याख्यान से टल नहीं सकता। मादक वस्तुओं का सेवन करने वाले जानते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन अच्छा नहीं है। वे नहीं चाहते कि मदिरा पी जाए, किन्तु जब समय आता है तब उनकी सारी नाड़ियां व्याकुल हो जाती हैं। मांग इतनी प्रबल हो जाती है कि न पीने की बात नीचे दब जाती है और वह नाड़ी-संस्थान विवश करता है उसे पीने के लिए। नाड़ी-संस्थान बहुत बड़ा निमित्त है। संयम की साधना में एक कठिनाई है बाहर के निमित्तों की और दूसरी कठिनाई है स्नायु-संस्थान की। सब कुछ यही नहीं है।

परिस्थितिवाद के विचारक और निमित्तवादी विचारक सारा का सारा दोष

यह सबसे बड़ी कठिनाई है कि जब निमित्त है तो उनके दोषों को कैसे रोका जा सकता है ? इनसे बचने का उपाय क्या है ?

इनसे बचने का उपाय है—उपादान की सिद्धि। मनुष्य यांत्रिक जीवन जी रहा है। कम्प्यूटर के आविष्कार के बाद यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य यांत्रिक है। जो कुछ मनुष्य करता है, कर सकता है, वह सब कुछ कम्प्यूटर करता है। वह कविता बनाता है, प्रश्न करता है, प्रश्न के समाधान प्रस्तुत करता है, गणित के जटिलतम प्रश्न हल करता है, अभिवादन करता है, स्मृति रखता है, अनागत की कल्पना करता है, सोचता है, मीमांसा करता है, निर्णय करता है, विवेक करता है, सब कुछ करता है जो मनुष्य करता है।

फिर प्रश्न उठा कि मनुष्य और यंत्र में अन्तर क्या है ? भेदरेखा क्या है ? मनुष्य आत्मवान् है, यंत्र आत्मवान् नहीं है। प्राणी और अप्राणी के बीच की यह भेदरेखा है। किन्तु जब महावीर से पूछा गया—

"क्या आत्मा श्वास लेती है ?"

"नहीं, वह श्वास नहीं लेती।"

"क्या आत्मा सोचती है ?"

"नहीं, आत्मा नहीं सोचती।"

"क्या आत्मा खाती-पीती है ?"

"नहीं, आत्मा न खाती है और न पीती है।"

महावीर ने सारे उत्तर नकार में दिए। [illegible]

फिर प्रश्न हुआ कि मनुष्य आत्मवान् कैसे है ? वह आत्मवान् कैसे बने ? इस परिधि में रहकर कोई भी आत्मवान् नहीं बन सकता। कोई भी संयम की साधना नहीं कर सकता। कोई भी उपादान की शुद्धि नहीं कर सकता। इस परिधि को तोड़ना होगा। यह परिधि चेतना की परिधि नहीं है, यह [illegible] यांत्रिक परिधि है, चेतना के आसपास के [illegible]। इस परिधि का [illegible] करके आना होगा। यदि हम वहां तक पहुंच पाएं कि जहां हम केवल [illegible] हैं, केवल देखने वाले हैं, खाने-पीने वाले नहीं, सोचने वाले नहीं, निर्णय करने वाले नहीं, केवल जानने और देखने वाले, केवल ज्ञाता और द्रष्टा—वह हमारी प्राणी और अप्राणी के बीच की भेदरेखा होगी और [illegible]। यह उपादान है। इस उपादान तक पहुंचने पर ही [illegible] उत्पन्न हो जाता है और साधना की सिद्धि का सूत्र प्राप्त हो जाता है। संयम की सिद्धि का अर्थ है—ज्ञाता-द्रष्टाभाव की अनुभूति। [illegible]

[illegible]

प्रयोग करें। प्राचीन भाषा में जिसे हम भावना कहते हैं, मनोविज्ञान की भाषा में उसे सुझाव कहा जाता है। ज्ञानतंतुओं को सुझाव दें, निर्देश दें। यह निर्देशन की क्रिया सुझाव की क्रिया है। आदत के परिवर्तन में यह बहुत सहायक प्रक्रिया है। कोई भी इन्द्रिय की उच्छृंखलता है, चपलता है, विक्षेप है और हम नहीं चाहते कि ऐसा हो तो हम उन ज्ञानतंतुओं को निर्देश दें। पहले हम उसके केन्द्र को पकड़ें और फिर सुझाव दें, निर्देश दें। पहले हम यह जानें कि जिस वृत्ति को हमें बदलना है उसका केन्द्र कौन-सा है? उस केन्द्र को पहचानकर हम निर्देश दें। वहां के ज्ञानतंतु हमारा निर्देश मानने लग जाएंगे। निर्देश भी अत्यन्त प्रियता के साथ देना चाहिए। भाषा मधुर हो। कठोर और कर्कश भाषा में दिए गए निर्देश उतने कार्यकारी नहीं होते। प्रियता से दिए गए निर्देश बहुत सफल होते हैं। ज्ञानतंतु अत्यन्त कोमल हैं। कोमलता ही उन्हें इष्ट है। निर्देश कोमल हो, कठोर न हो। धीरे-धीरे वे ज्ञानतंतु आपके निर्देशों के अधीन हो जाएंगे। वे आपकी बात मानने लग जाएंगे।

केवल रटन से कोई निष्पत्ति नहीं होती। रटन के साथ भावना हो, तादात्म्य हो तभी वह सफल होता है। एक आदमी 'संसार अनित्य है', 'शरीर अनित्य है' —ऐसा बार-बार कहता रहे। एक दिन नहीं, एक माह नहीं, वर्ष-भर भी यह रटन लगाता रहे। परन्तु उसकी यह रटन सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने मन को इस अनित्यता के भाव से भावित नहीं कर लेता, वासित नहीं कर लेता, उसके साथ तादात्म्य नहीं हो जाता, उस भावना को हृदयंगम नहीं कर लेता। जब तक वह बात वाणी मात्र का विषय बनी रहती है तब तक वह निष्पत्ति नहीं हो सकती जो हम चाहते हैं। हम जो होना चाहते हैं या हम जो करना चाहते हैं उसमें ज्ञानतंतुओं को तन्मय बना दें। यही भावना है। हम तन्मूर्तिक बन जाएं।

भगवान् महावीर ने एक शब्द दिया—तन्मूर्ति। बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है। उन्होंने कहा—"तुम बनते हो। एक है शक्ति। और एक है शक्तिमान्। ऐसा न रहे। दो न रहें। शक्ति और शक्तिमान्—ये दो न रहें। तुम स्वयं शक्तिमान् मत रहो शक्ति बन जाओ।" शक्तिमान् और शक्ति—यह द्वैत मिट जाए। अद्वैत रहे। जो शक्तिमान् है वही शक्ति है और जो शक्ति है वही शक्तिमान् है। यही तन्मूर्ति है। यही भावना है।

उपादान तक पहुंचने का यह एक प्रयोग है।

उपादान तक पहुंचने का दूसरा प्रयोग है—तटस्थ रहकर वृत्तियों को देखना। वृत्तियों को रोकने का प्रयत्न न हो। जो विचार आ रहे हैं, फिर चाहे वे विचार वासना के हों या अन्य किसी वृत्ति के, आने दें। उन्हें रोकें नहीं। उन्हें मात्र देखें। जो अंकित है वह भी सामने हो, उभरता हो। इसमें बुराई क्या है? कोई बुराई नहीं है। आने का अर्थ है विलय। जो उभरकर आता है उसका विलय होता ही।

३. चेतना की क्रीडाभूमि : अप्रमाद

- सव्वओ पमत्तस्स भयं ।
- सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं ॥ [आयारो, ३।७५]
- सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति । [आयारो, ३।१]
- णो णिहेज्ज वीरियं [आयारो, ५।४१]

  - प्रमत्त को सब ओर से भय होता है ।
  - अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता ।
  - अज्ञानी सदा सोते हैं, ज्ञानी सदा जागते हैं ।
  - अपनी शक्ति को मत छुपाओ ।

- ज्ञाता-द्रष्टा—केवल द्रष्टा बने रहें ।
  जागृत रहें ।
  श्वास आ रहा है, जा रहा है ।
  कम्पन हो रहा है ।
  विचार उठ रहा है, विलीन हो रहा है ।
  वासना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
  क्रोध-उत्तेजना उठ रही है, विलीन हो रही है ।
  निर्विचार दशा में प्रज्ञा उपलब्ध होती है ।
  करने की आदत है, इसलिए न करना या होना कठिन लगता है ।

- अप्रमाद

  - चैतन्य का सतत उपयोग ।

तीन

एक आदमी जा रहा था। रास्ते में एक राक्षस मिला। उसने कहा—"एक समस्या है। इसे पूरी करो।" आदमी ने कहा—"बताओ, समस्या क्या है?" राक्षस ने कहा—"किमाश्चर्यमतः परम्"—इससे बढ़कर और आश्चर्य ही क्या है?"

आदमी होशियार था। उसने समस्यापूर्ति करते हुए कहा

"अहन्यहनि भूतानि, गच्छन्ति यममन्दिरे।
शेषा: जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्॥"

—प्रतिदिन प्राणी यममन्दिर में जा रहे हैं, मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। यह देखते हुए भी शेष प्राणी यही सोचते हैं कि वे तो सदा जीवित रहेंगे। इससे बढ़कर और बड़ा आश्चर्य क्या हो सकता है?—यह उस आदमी की उपज थी। बहुत ही सुन्दर समाधान उसने दिया।

यदि मुझे इस समस्या की पूर्ति करनी हो तो मैं दूसरे ढंग से ही करूंगा। मैं कहूंगा—

"अनन्तशक्तिसम्पन्ना: भिक्षां याचामहे यदि।
दैन्यं प्रदर्शयन्तो हि, किमाश्चर्यमतः परम्?"

—हम अनन्तशक्ति के अधिकारी और स्वामी होते हुए भी अपनी शक्तियों को नहीं जानते। प्रमाद में मूढ़ होकर उन्हें भूल जाते है, भूल गए हैं। उनको विस्मृत कर हम यत्र-तत्र अपनी दीनता प्रदर्शित करते हैं। हम कह देते हैं—"मैं एक घंटा एक आसन पर बैठ नहीं सकता। मैं इतनी गर्मी को सहन नहीं कर सकता। मैं ध्यान करता हूं तब सिर में दर्द होने लगता है।" यह दीनता है। इसका प्रदर्शन करना सबसे बड़ा आश्चर्य है। एक ओर तो व्यक्ति अनन्त शक्तियों का स्वामी है

होना अनुग्राह है।

साधना में उत्साह कम व्यक्तियों में होता है। उन पर प्रमाद छाया रहता है। हम थोड़ा मुड़ें और अपनी संपदा से परिचित होने का उपक्रम करें। हम प्रमाद को हटाने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में सबसे बड़ा सहयोग मिलेगा चेतना का। सबसे पहले हम यह बोध प्राप्त करें कि हमारे में अनन्त शक्ति है। यह बोध हो जाने पर ही उसके प्रयोग की बात सोची जा सकती है। पहले हम अपनी शक्तियों से परिचित हों। हम जान लें कि हमारे भीतर शक्तियों का अजस्र स्रोत बह रहा है। इससे परिचित होते ही फिर उपयोग की सुविधा हो जाती है।

पूर्व चौदह थे। वे ज्ञान के आकर-ग्रंथ थे। इनमें एक था—वीर्यप्रवाद। इसका वर्ण्य विषय था—शक्ति के स्रोत और प्रयोग। इसमें केवल शक्ति का ही प्रतिपादन था, अन्य विषयों का नहीं। बहुत अद्भुत ग्रंथ था। आज वह उपलब्ध नहीं है। इसमें जीव और अजीव, प्राणी और अप्राणी, चेतन और अचेतन—सभी पदार्थों की शक्तियों का वर्णन था। प्राणी की तरह अप्राणी में भी अनन्त शक्ति होती है। अचेतन पदार्थों की विभिन्न शक्तियों का उस ग्रंथ में वर्णन था। द्रव्य की शक्ति, क्षेत्र की शक्ति और काल की शक्ति अनन्त होती है। अजीव की बहुत बड़ी-बड़ी शक्तियां हैं। इन शक्तियों का सहयोग जीव को भी मिलता है।

अजीव की शक्तियों का विस्तृत वर्णन नहीं करेंगे, किन्तु प्रसंगवश कुछ चर्चा प्रस्तुत करता हूं। क्षेत्र की शक्ति अद्भुत होती है। एक क्षेत्र में जाने से मन प्रसन्न होता है और एक क्षेत्र में जाने से मन विषण्ण होता है। एक क्षेत्र की तरंगें इतनी पवित्र और शांत होती हैं कि मन शान्त हो जाता है, उद्विग्नता मिट जाती है। एक क्षेत्र की तरंगें इतनी मादक होती हैं कि मन अशान्त हो जाता है, उद्विग्न हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है।

काल की भी अपनी शक्ति होती है। एक काल में जो बात हो सकती है वह दूसरे काल में नहीं हो सकती। प्रातःकाल में किए जाने वाले ध्यान में जितनी स्थिरता होती है वह मध्याह्नकाल में नहीं होती। सर्दी में मन की जितनी स्थिरता होती है, गर्मी में उतनी नहीं होती। आयुर्वेद में काल के आधार पर औषधि-सेवन का विधान भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिपादित है। हरीतकी का प्रयोग भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से होगा। काल की शक्ति द्रव्य की शक्ति को घटा-बढ़ा सकती है।

द्रव्य की अपनी शक्ति होती है। उसको जानने वाला द्रव्यों से लाभान्वित हो सकता है। प्राचीनकाल के साधक इस बात से परिचित थे कि साधना में कौन-कौन-से द्रव्य सहायक होते हैं। ध्यान की स्थिरता, आसन की स्थिरता, मन की स्थिरता में अमुक-अमुक द्रव्य सहयोगी बनते हैं। आज उन द्रव्यों की

प्राप्त है। दूसरों के लिए यह सभाव्य शक्ति है।

वाक्-वीर्य के दो रूप और हैं। एक है—क्षीरास्रवलब्धि और दूसरा है—मध्वास्रवलब्धि। इन लब्धियों से सपन्न व्यक्ति जब बोलता है तब सुनने वाले को लगता है मानो वह दूध पी रहा है, मधु चाट रहा है। शब्द इतने मीठे होते हैं। यह उस लब्धिसपन्न व्यक्ति के लिए सहज है। हर व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है, सभाव्य है सबके लिए।

एक राजा आचार्य के पास आकर बोला—"गुरुदेव! देवताओं की आयु बहुत लबी होती है। क्या वे जीते-जीते नहीं अघाते?" आचार्य ने कहा—'वे इतने सुख से जीते है कि उन्हें काल का बोध ही नहीं होता। काल का बोध उन्हें होता है जो कष्ट से जीवन बिताते है। राजा ने कहा— यह कैसे सभव है? काल का बोध क्यों नहीं होता? आचार्य क्षीरास्रवलब्धि से सपन्न थे। उन्होंने कहा—' राजन्! कुछ देर उपदेश तो सुन लो। राजा उपदेश सुनने बैठा। आचार्य बोलने लगे। दो प्रहर बीत गए। राजा तन्मय होकर सुनता रहा। उपदेश के अन्त मे आचार्य ने राजा से पूछा— कितने समय से उपदेश सुन रहे हो?' "गुरुदेव! अभी दो क्षण ही तो हुए है। अभी-अभी तो आपने उपदेश शुरू किया था। आचार्य ने कहा— राजन्! तुम्हें उपदेश इतना मीठा और सरस लगा कि काल का बोध ही नहीं हुआ। मुझे बोलते दो प्रहर हो गए है। राजा अवाक् रह गया। यह वाक्-शक्ति का रूप है।

शरीर की शक्ति भी विचित्र होती है। महावीर को हम समझें। उन्होंने चार मास तक खड़े रहकर ध्यान किया। न उच्चार, न प्रस्रवण, न आहार, न नीहार। कुछ भी नहीं। न मच्छर उड़ाया, न अगुली हिलाई, कुछ भी नहीं किया। वे खड़े थे। लगता था कोई पत्थर की प्रतिमा खड़ी है। यह चातुर्मासिक प्रतिमा थी। इसी प्रकार वार्षिक प्रतिमा का भी उल्लेख है। बाहुबली बारह मास तक कायोत्सर्ग मे खड़े रहे। उनके शरीर पर लताएं चढ़ गयी। वे खड़े ही रहे। हम एक-दो घटे भी खड़े नहीं रह सकते। क्या हमारी शक्ति मे और उनकी शक्ति मे कोई अन्तर है? नहीं, कुछ भी अन्तर नहीं है। जितनी शक्ति उनमें थी उतनी ही शक्ति हमारे भीतर है। अन्तर केवल इतना ही है कि वे अपनी शक्ति से परिचित थे और हम अपनी शक्ति से परिचित नहीं है। परिचय का अन्तर है। वे अपनी शक्ति और चेतना को भली भांति जानते थे। हम अपनी शक्ति और चेतना को विस्मृत कर बैठे है। उन्हें शक्ति-विकास का सूत्र प्राप्त था। हमें वह प्राप्त नहीं है। इसलिए चार महीने या बारह महीने तक खड़े रहने की बात सुनकर हमें आश्चर्य होता है। आश्चर्य इसलिए होता है कि हम अपनी शक्ति से अज्ञात है। हम अभ्यास करें तो समस्त शक्ति को अभिव्यक्त कर सकते है। यही [illegible] का रहस्य है।

होगा। कोई दूसरा ध्यान करो तब वहीं पहुंचा जाता। शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए केवल वीतराग स्वरूप का आलंबन ही कार्यकारी होता है। दूसरे आलंबन उसकी उपलब्धि नहीं करा सकते। यह है हमारा वह ध्यान जैसे कोई व्यक्ति सिर पर दीया रखकर खड़ा रहता है तो चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही इस ध्यान से चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, शुद्ध चेतना का अनुभव हो जाता है।

यदि कोई साधक मनोबली बनना चाहता है, वाक्‌बली बनना चाहता है, इन्द्रियों को पटु-पटुतर बनाना चाहता है तो फिर उसे ध्यान की सारी ऊर्जा को, प्राण की सारी ऊर्जा को एक दिशा में प्रवाहित करना होगा। इसकी प्रक्रिया यह है—

साधक पहले अपने ध्येय को निश्चित करे। मान लें कि वह कायबली बनना चाहता है। यह उसका ध्येय है। अब उसे कायबली के अंतिम व्यक्ति की प्रतिमा का मन ही मन निर्माण करना होगा। उसे ऐसे व्यक्ति का ध्यान बनाना होगा जो कायबल में उत्कृष्ट है। बाहुबली कायबल के प्रतीक हैं। साधक उन्हें अपना ध्येय बनाता है। उन्हें ध्येय बनाकर साधक ध्यान करता है। ध्येय है बाहुबली और साधक है ध्याता। यह सभेद ध्यान है। ध्याता और ध्येय के बीच सभेद है, दूरी है। किन्तु जैसे-जैसे ध्यान की पटुता बढ़ती जाएगी उद्देश्य परिपक्व होता जाएगा। फिर ध्येय और ध्याता अलग नहीं रहेंगे। उनमें दूरी नहीं रहेगी। आप स्वयं बाहुबली बन जाएंगे। इतना अभेद सध जाएगा कि आप स्वयं ध्येय के रूप में परिणत हो जाएंगे। स्वयं बाहुबली बन जाएंगे।

इस स्थिति तक पहुंचने के लिए आप शिथिलीकरण करें, कायोत्सर्ग करें। शरीर को शून्य कर दें, मृतवत् कर दें। स्वयं ध्येयमय बनने का प्रयत्न करें, ध्येय का अनुभव करें। आपके भीतर की शक्ति परिणमन करना शुरू कर देगी। एक दिन अनुभव होगा कि शरीर में बहुत बड़ी शक्ति उत्पन्न हो रही है और आप दृढ़काय वाले, कायबली बनते जा रहे हैं। यह छोटा-सा सूत्र है

- ध्येय का निर्णय करें।
- ध्येय का आकार बनाएं।
- ध्यान की ऊर्जा को एक ही दिशा में प्रवाहित करें।
- भेद से अभेद को साधें, तन्मूर्ति बन जाएं।

यह सूत्र है—शक्तियों के विकास का। शक्ति चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। ऋद्धियों और लब्धियों के विकास का यही सूत्र है। कभी-कभी बिना प्रयत्न के भी किसी एक दिशा में विकास होता है किन्तु वह कोई नियम नहीं बनता। ऊर्जा को एक दिशागामी बनाने से ही विकास की संभावना होती है, यह नियम है।

- सुख-दुःख का जोड़ा अच्छा लगता था, अब केवल सुख अच्छा लगता है।
- कर्मफल भोगता हुआ अपने को सुखी या दुःखी अनुभव करता था अब नहीं तटस्थ रहता है।
- चैतन्य का अनुभव कभी-कभी, अब चैतन्य का सतत अनुभव।
- कर्म कहीं, मन कहीं, वेठोजी में। अब कर्म के साथ मन का सतत योग। मन कर्म जानते हुए।
- ज्ञान 'पर' में प्रतिष्ठित था, अब ज्ञान (पर से च्युत होकर) ज्ञान में प्रतिष्ठित है।
- विवेक का फल—तटस्थता।
  तटस्थता फल—उपेक्षा।
  उपेक्षा का फल—ममता।
- रूपान्तरण का प्रयोग
  - भेद-विज्ञान की अविच्छिन्न धारा।
  - ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण।
  - चैतन्य-प्रेक्षा।

□□

उसके मन में एक छटपटाहट पैदा होती है, व्याकुलता पैदा होती है। एकाग्रता का मूल्य हो सकता है, किन्तु सर्वत्र उसका मूल्य नहीं होता। मन में छटपटाहट, चचलता, व्याकुलता भी होनी चाहिए। उसका भी अपना मूल्य है। जब तक व्याकुलता पैदा नहीं होती, तब तक उस दिशा में बढा नहीं जा सकता। हम एकाग्रता का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हम मन को चला रहे हैं। अतर इतना-सा हो आया है कि जो मन हमें चला रहा था, हम उसे चला रहे हैं। जो मन हमें क्रीडा करा रहा था, हम उसे क्रीडा करा रहे हैं। क्रीडा करने के लिए हमने उसे बहुत लबा-चौडा मैदान दिया है। पूरा शरीर उसके क्रीडा के लिए प्रस्तुत है। वह शरीर में खेलता रहे, क्रीडा करता रहे। वहाँ कोई बाधा नहीं है। अन्तर केवल दिशा का है। विवेक जागता है, प्रज्ञा जागती है, दिशा बदल जाती है, रूपान्तरण हो जाता है। जिसके हाथ में स्वामित्व था, वह छिन गया। स्वामित्व दूसरे के हाथ में आ गया। पहले हम मन के सेवक थे। विवेक जागा और हम मन के स्वामी हो गए। पहले मन स्वामी था, अब वह सेवक बन गया। अब वह स्वामी के पीछे-पीछे चलने वाला हो गया। रूपान्तरण हो गया। और कोई अन्तर नहीं आया। चचलता तो मौजूद है।

साधना का अर्थ है—व्यक्तित्व का रूपान्तरण। यदि व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं होता है और साधक ध्यान करते ही चले जाते हैं, तपस्या करते ही चले जाते हैं, साधना करते ही चले जाते हैं तो एक दिन स्वय को अनुभव होता है कि ये सारी उपासनाएं व्यर्थ हैं। इतने दिन तक इनकी उपासना की और कहीं भी नहीं पहुच पाये। उसी बिन्दु पर आज हैं, जिस बिन्दु पर प्रारभ में थे। इससे निराशा होती है और साधक साधना को छोड देने को ललचाते हैं।

इतनी लबी तपस्याएं कीं, दिनों, महीनों और वर्षों तक भूख-प्यास सहन की, कुछ भी नहीं मिला, कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। सब व्यर्थ है। इससे चिपके रहना भूल है। इसे छोड दिया जाए।

ध्यान करते रहे, पर व्यक्तित्व उस बिन्दु पर टिका रहा, कोई परिवर्तन नहीं आया तो ध्यान के प्रति रही हुई आस्था डगमगा जाएगी। जी चाहेगा कि उसे छोड दिया जाए।

ध्यान की सार्थकता, तपस्या की सार्थकता और साधना की सार्थकता है—व्यक्तित्व का रूपान्तरण। इसका अनुभव स्वयं को तो होना ही चाहिए, दूसरों को भी होना चाहिए। दूसरों को हो ही यह आवश्यक नहीं है, स्वय को तो होना ही चाहिए। ऐसा होने पर ही आस्था जमती है और साधक आगे से आगे बढता जाता है। पहले जैसा था, आज वैसा ही है—यह बात साधना में चल नहीं सकती। रूपान्तरण अवश्य ही होना चाहिए।

रूपान्तरण होता है। एक साधक की अनुभव की भाषा में बताऊं कि

विस्मृत होती गयी एक पक्ष आचारवाद का बन गया और एक पक्ष ज्ञानवाद का बन गया।

अप्रमत्तता की जब अखंड ज्योति जल उठती है तब मन और प्रवृत्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं। तब एक भी काम ऐसा नहीं होता जिसके साथ मन न हो। अंगुली उठती है। उसे पता होता है कि अंगुली उठी है। श्वास आता है तो पता रहता है कि श्वास आ रहा है, जा रहा है। उसकी कोई भी क्रिया बेहोशी में नहीं होती। सब कुछ होश में होता है। सब कुछ जागरण में होता है। कर्म के साथ मन चलता है। ऐसा तब भी व्यवहार नहीं होता जहां कर्म तो है, पर मन नहीं है। कर्म कहीं और है और मन कहीं और है—ऐसा नहीं हो सकता। अप्रमत्तता है रूपान्तरण की तीसरी किरण। इससे फलित होता है—कर्म और चेतना का एकीकरण, अद्वैत, अभिन्नता।

जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती है, अनुभव का प्रकाश सघन होता जाता है, तब चौथी किरण फूटती है। चौथी किरण है—वीतरागता। जब यह किरण फूटती है तब चेतना सभी संगों से मुक्त हो जाती है, वीतराग बन जाती है। वीतराग का अर्थ है—'पर' से हटकर अपने-आपमें प्रतिष्ठित होना। इस अवस्था में 'पर' का संबंध समाप्त हो जाता है। यह बड़ी उपलब्धि है। आज तक ज्ञान 'पर' में प्रतिष्ठित था। दूसरों में टिका हुआ था, दूसरों के घर में रह रहा था। उसे अपना घर प्राप्त नहीं था। किन्तु जब चेतना की यह किरण—वीतरागता प्रस्फुटित होती है तब ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपने स्थान पर आ जाता है। उसे अपना घर मिल जाता है। वीतरागता और कैवल्य में कोई दूरी नहीं है, कोई अन्तर नहीं है। जैसे वीतरागता प्रकट होती है, चेतना पूर्ण रूप से अनावृत हो जाती है। जो मूढ़ता का आवरण था, वह सदा के लिए हट जाता है। मूढ़ता के टूटते ही वीतरागता प्रकट हो जाती है और वीतरागता के प्रकट होते ही कैवल्य प्राप्त हो जाता है। दोनों के बीच में कोई आवरण नहीं रहता। कैवल्य का अर्थ है—शुद्ध चेतना का प्रादुर्भाव।

अस्तित्व की झलक का पहला फल है विवेक। हमारी चेतना के जागरण की पहली भूमिका है—विवेक। विवेक की निष्पत्ति है—तटस्थता। यह चेतना के जागरण की दूसरी भूमिका है। तटस्थता अर्थात् उपेक्षा। उपेक्षा के दो अर्थ हैं—ध्यान न देना और निकटता से देखना। उप + ईक्षा = उपेक्षा। जो तटस्थ होता है वही निकटता से देख सकता है। पक्षपात में रहने वाला निकटता से नहीं देख सकता। वह प्रिय के प्रति रक्त होगा और अप्रिय के प्रति द्विष्ट होगा। वह एक के प्रति राग करेगा और दूसरे के प्रति द्वेष करेगा। जिसमें झुकाव होता है वह सही अर्थ में निकटता से नहीं देख सकता। वह दूर से ही देखता है। न प्रिय को ठीक से समझ सकता है और न अप्रिय को ठीक से समझ सकता है।

५. ऊर्जा का विकास : तप

- जुद्धारिहं खलु दुल्लहं। [आयारो, ५।४६]

  —० युद्ध के योग्य सामग्री निश्चित ही दुर्लभ है।

- अध्यात्म साधक को संघर्ष का सामना करना होता है।
- विवेक-चेतना जागने पर वह ज्ञाता-द्रष्टाभाव की ओर जाने के लिए प्रत्याख्यान करता है।
- उपादेय की प्रतिमा सामने होती है तब हेय पीछा नहीं करता।
- उपादेय को उपलब्ध होने पर वह संयत, जागृत और शान्त रहना चाहता है, तब आस्रव (वृत्तियां) युद्ध छेड़ देते हैं। उनसे निपटने के लिए अनेक साधनों का उपयोग आवश्यक है।
- अध्यात्म की साधना, पूरी की पूरी भेद-विज्ञान की साधना, अयोग की साधना है—
  - ० शरीर और आत्मा का भेद।
  - ० इच्छा और आत्मा का भेद।
  - ० मूर्च्छा और आत्मा का भेद।
  - ० आवेग और आत्मा का भेद।

□□

इस ज्योतिपुंज में लीन होगा, जब मन चैतन्य के इस शान्त समुद्र में डुबकियाँ लगायेगा तब शरीर अपने-आप शांत होगा, स्थिर होगा, व्यक्त होगा। शरीर की सारी चंचलता प्राण-ऊर्जा की चंचलता है। शरीर की सारी चंचलता मन की चंचलता है। यदि प्राण की धारा चैतन्य की ओर बहने लग जाती है, यदि मन की धारा चैतन्य की ओर प्रवाहित होने लग जाती है तो शरीर शांत हो जाता है, क्योंकि चंचलता पैदा करने वाली प्राण की ऊर्जा उसे प्राप्त नहीं हो रही है, मन की गति भी उसे प्राप्त नहीं हो रही है। तब शरीर शांत और स्थिर हो जाता है। उसका उत्सर्ग हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही पूरा कायोत्सर्ग सधता है। यदि आप मन को ज्ञाता और द्रष्टा के साथ नहीं जोड़ते हैं, जो जानने वाला है और देखने वाला है उसके साथ मन का योग नहीं करते हैं, तो काया का उत्सर्ग नहीं हो सकता, प्रवृत्ति का विसर्जन नहीं हो सकता।

कायोत्सर्ग के दो चरण है। एक है—शिथिलीकरण और दूसरा है—विसर्जन। शिथिलीकरण विसर्जन नहीं है। विसर्जन का अर्थ है—काया और चैतन्य के पृथक्त्व का स्पष्ट अनुभव। यह लगने लगे कि काया वहीं अलग पड़ी है और चैतन्य यहीं अलग पड़ा है। पिंजड़ा रह गया, पंछी अलग हट गया, अनन्त आकाश में उड़ने लग गया। ढक्कन पड़ा है और ज्योति उससे भिन्न हो गयी है। ऐसा कायोत्सर्ग तब होता है जब मन अध्यात्म में रम जाता है। उस समय हाथ, पैर, वाणी और समस्त इन्द्रियां अपने-आप संयत हो जाती हैं।

हम दोनों ओर से चलें। बाहर से भी चलें और भीतर से भी चलें। बाहर से चलें तब सबसे पहले हाथों का संयम करें, पैरों का संयम करें, वाणी का संयम करें, इन्द्रियों का संयम करें। जब हम भीतर से चलें तब इस मुद्रा में बैठ जाएं जिससे मन की दिशा बदल जाए, प्राण की धारा बदल जाए और मन और प्राण की सारी ऊर्जा भीतर की ओर बहने लग जाए। यह बाहर से भीतर की ओर गति है। एक गति है—भीतर से बाहर की ओर और दूसरी है—बाहर से भीतर की ओर। यदि मन भीतर की ओर रम गया, यदि अस्तित्व की कोई झलक मिल गयी, यदि अस्तित्व में मन रम गया तो शरीर के समस्त अवयव अपने-आप शांत हो जाएंगे। प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, अपेक्षा नहीं है। चंचलता अपने-आप मिट जाएगी। उस समय साधक 'गुप्तसमाहितात्मा' बन जाएगा। आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होगा जो पहले कभी नहीं हुआ था। इस स्वरूप को आज तक आप या तो इन्कार करते रहे हैं या केवल मानते रहे हैं, किन्तु जानते नहीं रहे हैं।

दो प्रकार के लोग हैं। कुछ आत्मा को मानते हैं। कुछ आत्मा को नहीं मानते। कुछ लोगों ने यह मान लिया कि आत्मा है। यह मानने वालों का अहित नहीं दिखती। किसी ने प्रबल तर्कों के द्वारा यह प्रतिपादित किया कि 'आत्मा नहीं

प्रत्याख्यान तब होता है जब हेय और उपादेय—दोनों हमारे सामने होते हैं। दोनों प्रतिमाएं हमारे सामने होती हैं। इन दोनों में जो प्रतिमा आकर्षक होती है, वह हमें अपनी ओर खींच लेती है। प्रत्याख्यान तभी सधता है जब उपादेय की प्रतिमा आकर्षक होती है, शक्तिशाली होती है। हेय अपने-आप छूट जाता है। उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ने की आवश्यकता ही उत्पन्न नहीं होती। यदि केवल हेय ही हो, उपादेय न हो तो मनुष्य क्या करेगा? वह मर जाएगा। उपादेय है तो हेय को छोड़ा जा सकता है। बिना उपादेय के कोई भी हेय को नहीं छोड़ सकता। अच्छी वस्तु सामने आती है तब बुरी वस्तु छूट जाती है। सुखद वस्तु आती है तब दुःखद वस्तु छूट जाती है। पहले लोग बैलगाड़ियों से यात्रा करते थे। जब रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तब बैलगाड़ियां छूट गयी। लोग रेल और मोटरों में यात्रा करने लगे। हवाई जहाज के आविष्कार ने सभी वाहनों को पीछे ढकेल दिया। यह होता है। अच्छी चीज बुरी चीज को पीछे ढकेल देती है। किसी के कहने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रत्याख्यान से संयम की चेतना जागृत हो जाती है। संयम की चेतना से अपने-आप में लीन रहने की बात प्राप्त हो जाती है। साधक को लगता है कि अब भीतर रहना ही अच्छा है। मन भीतर की खूंटी से बंध जाता है। मन चैतन्य के शांत सागर में डुबकियां लगाने लग जाता है। मन ज्योतिपुंज के प्रकाश में इतना आकर्षण देखता है कि अब वह बाहर के अंधेरे में जाना पसंद नहीं करता, भीतर ही रहना चाहता है। ऐसी स्थिति में एक भीषण संघर्ष खड़ा हो जाता है। भीतर के आस्रव, भीतर की वृत्तियां, भीतर के आवेग संघर्षरत हो जाते हैं। प्रमाद और विषय-कषाय अपना काम शुरू कर देते हैं। मूर्च्छा भी सक्रिय हो जाती है। राग-द्वेष—ये दोनों अपनी रक्षात्मक क्रिया मजबूत करने लग जाते हैं। भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। यह युद्ध साधक के लिए एक अवसर है। आचारांग में कहा है—'जुद्धारिहं खलु दुल्लहं'—युद्ध का यह अवसर बहुत ही दुर्लभ है। साधक को जमकर मोर्चा लेना है। यह बड़ा अवसर है। इसका लाभ उठाना है। ऐसा अवसर कभी-कभी प्राप्त होता है। एक ओर से राग-द्वेष आक्रमण करते हैं, दूसरी ओर से उनके सैनिक उत्तेजना, प्रमाद, कषाय आक्रमण करते हैं। साधक उन सबको तोड़कर ही आगे बढ़ सकता है। वह उन्हें समाप्त करके ही अस्तित्व तक पहुंच सकता है। जब साधक वहां तक पहुंच जाता है तब उसे लगता है क्यों श्वास को देखें, क्यों शरीर में चैतन्य-केन्द्रों को देखें, क्यों अनशन करें, क्यों ऊनोदरी करें, क्यों संयम करें—यह सारा झंझट है। सीधा रास्ता है कि ज्ञाता-द्रष्टा भाव को ही देखें, उसे ही देखते रहें। पहुंच जाने वाले को लगता है कि यह रास्ता सीधा है, किन्तु जो अभी तक नहीं पहुंचा है, उसे यह रास्ता बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और कठिन लगता है। उसे पग-पग पर जूझना पड़ता है। सारे आक्रमण एक-

स्पष्ट देखा जाता है। मृत्यु की घटना सूक्ष्म शरीर में घटित हो गयी है। डाक्टर पहले से उसे स्पष्ट देख सकता है। आज इतने सूक्ष्म यंत्र विकसित हो चुके हैं कि सूक्ष्म शरीर में घटित होने वाली मृत्यु, बीमारी आदि के फोटो लिए जा सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर में न जाने कितने स्पंदन, कितने संवेदन, कितने विचार हो रहे हैं। सूक्ष्म शरीर बहुत बड़ा जगत है। साधक को उस जगत में प्रवेश कर उन स्पंदनों और संवेदनों को पकड़ना होगा। यदि मन को हम इतना सूक्ष्म, इतना पटु और इतना संवेदनशील बना सकें तो फिर सूक्ष्म शरीर की दीवार को भेद कर आगे बढ़ा जा सकता है। वहां पहुंचकर साधक अनुभव करेगा कि – यह रहा ज्ञाता-द्रष्टा। वहां कोई संताप नहीं, कोई विरोध नहीं, कोई अस्पष्टता नहीं, कोई व्यवधान नहीं। वहां ज्योतिपुंज के दर्शन होंगे। चैतन्य का लहराता हुआ समुद्र आंखों के सामने नाचने लगेगा। ज्ञाता-द्रष्टा का साक्षात्कार होगा।

साधक पहले चरण में कहेगा— 'मैं ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् करने के लिए यात्रापथ पर चला हूं।' जब वह मंजिल तक पहुंच जाएगा, तब वह कहेगा —"मैंने ज्ञाता-द्रष्टाभाव का साक्षात् कर लिया।" किन्तु इतनी दूरी तय करने के लिए अनेक अनुभवों से गुजरना पड़ता है। जब कोई इस यात्रापथ पर चलना प्रारंभ करता है तब उसे धुंधला-सा अनुभव होता है। किन्तु जब वह आगे बढ़ता है तब अनुभव स्पष्ट होता जाता है। वह उस स्थिति पर पहुंच जाता है जहां अस्पष्टता दूर, परोक्षता दूर, धुंधलापन दूर। वहां अनुभव करने वाला और अनुभाव्य—दो नहीं रहते। एक हो जाते हैं।

उस दूरी तक पहुंचने के लिए हम ज्ञाता और द्रष्टा का अनुभव लेकर चलें।

छह

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक बहिन ने पूछा, "यदि वह ज्योतिपुंज है तो उसका वर्ण कैसा है?"

आत्मा एक ज्योतिपुंज है। एक भाई ने पूछा, "यदि वह ज्योतिपुंज है तो दीये की भांति दिखाई क्यों नहीं देता?"

आत्मा ज्योतिपुंज है तो उसका कोई वर्ण होना चाहिए। आत्मा ज्योतिपुंज है तो वह जलते हुए दीपक की भांति दिखाई देना चाहिए। किन्तु न उसमें कोई वर्ण है और न वह जलता हुआ दिखाई देता है।

एक आदमी कमरे में गया। अन्दर बिजली जल रही थी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् बिजली चली गई। अंधेरा छा गया। कुछ भी नहीं सूझ रहा था। कोई भी वस्तु दिखाई नहीं दे रही थी। बाहर खड़े एक आदमी ने पूछा, "भीतर कौन है?" उसने कहा, "मैं हूं।"

'मैं हूं'—यह कैसे देखा? भीतर अंधेरा है। कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है, फिर 'मैं हूं' यह कैसे जाना? यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है तो कैसे दिखा कि मैं हूं। यदि आत्मा ज्योतिपुंज नहीं है, दीपक की भांति ज्योतिर्मय नहीं है तो कैसे दिखा कि 'मैं हूं'। कितना ही सघन अंधकार हो, व्यक्ति चाहे भूगृह में खड़ा हो, किन्तु 'मैं हूं'—यह दीप कभी नहीं बुझता। यह सदा जलता रहता है। 'मैं हूं'—इतना-सा प्रकाश पर्याप्त है यह समझने के लिए कि भीतर कोई ज्योतिपुंज है। यह प्रकाश की एक किरण पर्याप्त है। यदि हमारी यात्रा ज्योतिपुंज की दिशा में चले, हमारे प्राण की सारी ऊर्जा उसी ओर प्रवाहित हो तो एक न एक दिन उस ज्योतिपुंज का साक्षात्कार अवश्य होगा। उसमें चाहे वर्ण हो या न हो, ज्वलनशीलता हो या न हो, वह साक्षात् होगा।

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इन्द्रियों के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पांच प्राण बन जाते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, रसन इन्द्रिय प्राण, घ्राण इन्द्रिय प्राण, चक्षु इन्द्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राणधारा जब मन के साथ जुड़ती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ जुड़ती है तब कायबल बन जाता है। वही प्राणधारा जब श्वास के साथ जुड़ती है, श्वास को गतिशील बनाती है तब श्वासप्राण बन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जब जीवन को टिकाए रखने में सक्रिय होती है तब आयुष्यप्राण बन जाता है, जीवनशक्ति बन जाती है। एक ही प्राणधारा दस रूपों में विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराएं बन जाती हैं, दस प्रवाह बन जाते हैं।

जब प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त नीचे की ओर आता है तब सारे अस्तित्व का, शरीर का और चेतना का केन्द्र कामकेन्द्र बन जाता है। उस कामकेन्द्र में उलझी हुई चेतना के आसपास कृष्णलेश्या के विचार पनपते हैं, नीललेश्या के विचार पनपते हैं कापोत लेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतियां हैं वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती हैं।

कृष्णलेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमें कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचक है कि ऐसी वृत्ति कामकेन्द्र के आसपास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

जैन दर्शन ने छह लेश्याओं के आधार पर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, हठयोग ने उन्हीं तथ्यों का छह चक्रों के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनों की अपनी-अपनी परिभाषाएं हैं। यदि दोनों को परिभाषाओं से मुक्त कर दें तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरश: मिल जाता है। हठयोग तीन चक्रों को ऊपर और तीन चक्रों को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते हैं।

जब मूलाधार चक्र सोया रहता है तब उत्तेजना बढ़ती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तब आदमी पाशुक होता है। मणिपूर चक्र सोया रहता है तब आदमी में ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते हैं। तीन अप्रशस्त लेश्याओं के परिणामों से इनकी तुलना करें, सारी बातें ज्यों की त्यों मिल जाएंगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओं के ये ही स्थान हैं। यहां से अधोयात्रा प्रारंभ होती है, चेतना अधोयात्रा प्रारंभ करती है। सारे प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर

हमारी एक शक्ति है—प्राणशक्ति। एक ही प्राणशक्ति अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। उसके दस रूप बन जाते हैं। इन्द्रियों के साथ जब प्राण-ऊर्जा काम करती है तो पांच प्राण बन जाते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, रसन इन्द्रिय प्राण, घ्राण इन्द्रिय प्राण, चक्षु इन्द्रिय प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। वही प्राणधारा जब मन के साथ जुड़ती है तब मनोबल बन जाता है। जब वह वचन के साथ काम करती है तब वचनबल बन जाता है और वही जब काया के साथ जुड़ती है तब कायबल बन जाता है। वही प्राणधारा जब श्वास के साथ जुड़ती है, श्वास को गतिशील बनाती है तब श्वासप्राण बन जाता है। वही प्राण की ऊर्जा जब जीवन को टिकाए रखने में सक्रिय होती है तब आयुष्यप्राण बन जाता है, जीवनशक्ति बन जाती है। एक ही प्राणधारा दस रूपों में विभक्त हो जाती है। एक ही नदी की दस धाराएं बन जाती हैं, दस प्रवाह बन जाते हैं।

जब प्राण की धारा नीचे की ओर प्रवाहित होती है, चित्त नीचे की ओर जाता है तब सारे अस्तित्व का, शरीर का और चेतना का केन्द्र कामकेन्द्र बन जाता है। उस कामकेन्द्र में उतरी हुई चेतना के आसपास कृष्णलेश्या के विचार पनपते हैं, नीललेश्या के विचार पनपते हैं, कापोत लेश्या के विचार पनपते हैं। अधर्म के जितने विचार हैं, आर्त्त और रौद्र ध्यान की जितनी परिणतियां हैं वे सारी इसी कामकेन्द्र के आसपास पनपती हैं।

कृष्णलेश्या का एक लक्षण है—अजितेन्द्रियता। जिसमें कृष्णलेश्या होती है वह अजितेन्द्रिय होता है। यह इसका सूचन है कि ऐसी वृत्ति कामकेन्द्र के आसपास ही उत्पन्न होती है। कामकेन्द्र के पास जो चेतना है वह कृष्णलेश्या का ही परिणाम है।

जैन दर्शन ने छह लेश्याओं के आधार पर जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया है, हठयोग ने उन्हीं तथ्यों का छह चक्रों के आधार पर प्रतिपादन किया है। दोनों की अपनी-अपनी परिभाषाएं हैं। यदि दोनों को परिभाषाओं से मुक्त कर दें तो तथ्य-प्रतिपादन अक्षरशः मिल जाता है। हठयोग तीन चक्रों को ऊपर और तीन चक्रों को नीचे मानता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर—ये तीन चक्र हृदय से नीचे हैं और अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—ये तीन चक्र हृदय से ऊपर होते हैं।

जब मूलाधार चक्र सोया रहता है तब उत्तेजना बढ़ती है। स्वाधिष्ठान चक्र सोया रहता है तब आदमी कामुक होता है। मणिपूर चक्र सोया रहता है तब आदमी में ईर्ष्या, घृणा, क्रूरता के भाव पैदा होते हैं। तीन अप्रशस्त लेश्याओं के परिणामों से इनकी तुलना करें, सारी बातें ज्यों की त्यों मिल जाएंगी।

तीन अप्रशस्त लेश्याओं के ये ही स्थान हैं। यहां से अधोयात्रा प्रारंभ होती है, चेतना अधोयात्रा प्रारंभ करती है। सारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह नीचे की ओर

होती है। वह सूक्ष्म प्रयोगों के द्वारा उत्पन्न होती है। वह अन्न खाने से पैदा नहीं होती। तपस्या में भी यदि पानी नहीं लिया जाता तो अधिक ऊर्जा पैदा होती है। गर्मी को सहने से और अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने, उसका व्यय कम करने का उपाय है—प्रवृत्ति कम करो, स्थिर अधिक रहो। जितनी प्रवृत्ति होती है, ऊर्जा का व्यय भी उतना ही होता है। यह केवल आध्यात्मिक जगत् की ही बात नहीं है। शरीरशास्त्री भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। प्रवृत्ति अधिक, ऊर्जा का व्यय अधिक। प्रवृत्ति कम, ऊर्जा का व्यय कम। चिकित्सक विश्राम करने का सुझाव देते हैं उसके पीछे भी यही दृष्टिकोण है। विश्राम करने से शक्ति का व्यय कम होता है। ऊर्जा एकत्रित होती है।

कायिक प्रवृत्ति करते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया—कायगुप्ति करो।

वाचिक प्रवृत्ति करते हैं, बोलते हैं तो ऊर्जा का व्यय होता है, इसलिए कहा गया—वाक्‌गुप्ति करो।

सोचते हैं तो ऊर्जा का और अधिक व्यय होता है, इसीलिए कहा गया—मनोगुप्ति करो, निर्विचार रहो।

अध्यात्म के क्षेत्र में ऊर्जा के व्यय को कम करने के ये उपाय निर्दिष्ट हैं। गुप्तियों के द्वारा ऊर्जा का उत्पादन अधिक होता है, गुप्ति करो। ऊर्जा की आय अधिक होती है, व्यय कम होगा।

ऊर्जा को ऊपर कैसे ले जाया जा सकता है, यह एक प्रश्न है। बैठने की विभिन्न मुद्राएं ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहण में सहायक बनती हैं। सामान्य आदमी यह नहीं सोच सकता कि पालथी मारकर बैठने से तथा पद्मासन या उकड़ू आसन में बैठने से क्या अन्तर आता है। बहुत अन्तर आता है। ये सारे आसन विशिष्ट उद्देश्य से ही निर्णीत किए गए हैं। इनमें ऊर्जा का प्रवाह ऊपर की ओर होता है। पद्मासन से दबाव पड़ता है, ऊर्जा ऊपर की ओर जाने लगती है। उकड़ू आसन में नीचे के स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। गोदोहिका आसन से पीछे की ओर दबाव पड़ता है। ऊर्जा ऊपर जाने लगती है।

महावीर से पूछा—"भंते ! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ विशेष जानना चाहता हूं।"

महावीर ने कहा—"उड्ढं ठाणं ठाएज्जा—खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करो।"

खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने से ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है, रक्त नीचे की ओर जाता है। सर्वांगासन, शीर्षासन, वृक्षासन, पद्मासन—इन सबसे ऊर्जा ऊपर की ओर जाती है। ध्यान के लिए जितने आसनों का विधान किया गया, वे सब ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के उपक्रम हैं। इनसे ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्त

७. आध्यात्मिक सुख

- लोयं च फास विपफंदमाणं [आयारो, ४।३७]
- जे पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे।
  जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेयण्णे ॥ [आयारो, ३।१७]

  - देख, यह लोक चारों ओर से प्रकम्पित हो रहा है।
  - जो विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अन्तम् को जानता है, वह अनासक्ति के अन्तम् को जानता है। जो अनासक्ति के अन्तम् को जानता है, वह विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अन्तम् को जानता है।

- द्रव्य परिणामिनित्य होता है।
- दो प्रकार के स्पंदन होते हैं—
  - स्वाभाविक स्पन्दन—आत्मा में चैतन्य के स्पन्दन।
  - निमित्तज स्पन्दन—कर्म या सूक्ष्म शरीर के स्पन्दन। प्राण या मैग्नेट के स्पन्दन।
- चैतन्य के स्पन्दन सूक्ष्मतम। • कर्म के स्पन्दन सूक्ष्मतर।
  प्राण के स्पन्दन सूक्ष्म। • स्थूल शरीर के स्पन्दन स्थूल।
- मूर्च्छा या मोह के स्पन्दन सबसे अधिक होते हैं।
- श्वास के स्पन्दन से ऊर्जा उत्पन्न होती है: पार्थिव विद्युत् तथा मस्तिष्क में धारावाही विद्युत्।
- जब तक जीवनी शक्ति के स्पन्दन हैं तब तक प्राणी जीता है।

सात

द्रव्य परिणामिनित्य होता है। यदि वह नित्य ही हो तो हमे कुछ करने की जरूरत ही नही होती। उसमे परिवर्तन तभी होता है जब कि परिवर्तनशीलता है। कुछ उत्पन्न होता है और कुछ नष्ट होता है। आत्मा भी परिणामिनित्य है। उसमे दो प्रकार के स्पदन होते हैं। प्रत्येक पदार्थ मे दो प्रकार के स्पदन होते हैं। एक है स्वाभाविक स्पदन और दूसरा है निमित्तज स्पदन। चैतन्य का स्पदन स्वाभाविक होता है। यह निरतर होता रहता है। दूसरा स्पदन निमित्तो मे उत्पन्न होता है। निमित्त अनेक है। एक निमित्त है—कर्म। कर्म से स्पदन उत्पन्न होते है। दूसरा निमित्त है—प्राण। प्राण से स्पदन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हमारा अस्तित्व तीन प्रकार के स्पदनो से घिरा हुआ है—चैतन्य का स्पदन, कर्म का स्पदन और प्राण का स्पदन। स्पदनो का समुद्र तरगित है। ऊर्मियां ही ऊर्मियां। एक स्थिर अश, पर वह भी पूरा अस्थिर। एक नित्य अश, पर वह भी पूरा अनित्य। इतना परिणमन है कि चारो ओर स्पदन ही स्पदन दिखाई दे रहा है। उस स्पदन मे अस्पदित अश को खोज पाना भी सरल नही है।

चैतन्य के स्पदन सूक्ष्मतम स्पदन है। कर्म के स्पदन या सूक्ष्म शरीर के स्पदन सूक्ष्मतर है। प्राण के स्पदन सूक्ष्म हैं। स्थूल शरीर के सवेदन स्थूल है। हम सबसे पहले इन स्थूल स्पदनो को ही पकड़ते हैं। इनका ही हमे अनुभव होता है। इनको ही हम सुख या दुःख मानकर चलते हैं। स्थूल शरीर मे होने वाले स्थूल स्पदन ही हमारे लिए सुख-दुःख बने हुए हैं। उनसे परे आतर सुख की कल्पना करना हमारे लिए सरल भी नही है, सभव भी नही है। जब तक व्यक्ति चेतना के स्थूल स्तर पर जीता है तब तक यह कल्पना भी नही की जा सकती कि

पैदा होते हैं और दुःखद स्पंदन भी पैदा होते हैं। भक्ति और जप का मार्ग जो विकसित हुआ उसके पीछे भी स्पंदनों का ही सिद्धान्त काम करता है। कहा जाता है—अमुक प्रकार की ध्वनि करो अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करो। उच्चारण सहित जप करो, मन्द जप करो मौन जप करो, मानसिक जप करो और सूक्ष्म में जाकर प्राण का जप करो। यह स्पंदनों के उत्पादन का ही सिद्धान्त है। मंत्र का सिद्धान्त भी ध्वनि का सिद्धान्त है स्पंदनों का सिद्धान्त है। मंत्र की रचना करने वाले जानते थे कि किस प्रकार की ध्वनि से किस प्रकार के स्पंदन पैदा होते हैं और उनका क्या प्रभाव होता है। ध्वनियों के विविध स्पंदनों के आधार पर ही समूचा मंत्र-शास्त्र विकसित हुआ। सैकड़ों ग्रंथ मंत्र-शास्त्र पर लिखे गए। ऐसी कोई भी व्याधि, चाहे फिर वह शारीरिक हो या मानसिक, नहीं है, जिसके उपशमन के लिए कोई न कोई मंत्र निर्दिष्ट न किया हो। मंत्र के द्वारा चिकित्सा की जाती है। मंत्र के द्वारा शक्ति का विकास किया जाता है। मंत्र के द्वारा धन की प्राप्ति की जाती है। मंत्र के द्वारा अनिष्ट का निवारण किया जाता है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ—सबमें मंत्र का प्रयोग किया जाता है।

ध्वनि स्पंदन पैदा करती है और वे नाना प्रकार के स्पंदन नाना प्रकार की अवस्थाएं पैदा करते हैं।

अनुभव भी स्पंदन पैदा करते हैं। हम किसी अनुभव में जाते हैं। एक विशिष्ट प्रकार के स्पंदन प्रारंभ हो जाते हैं।

ध्यान भी स्पंदन पैदा करता है।

जितने आस्रव, उतने ही संवर। जितने बंध के प्रकार उतने ही मोक्ष के प्रकार। जितनी बीमारियां उतनी ही औषधियां। इसी प्रकार स्पंदन की उत्पत्ति के भी अनेक निमित्त हैं। जितने निमित्त, उतने ही प्रकार के स्पंदन। इसीलिए भक्तिमार्ग भी चल रहा है, श्रद्धामार्ग भी चल रहा है, ज्ञान और क्रियामार्ग भी चल रहा है। किसी भी मार्ग पर चलें। अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदन पैदा करें और अमुक-अमुक प्रकार के स्पंदनों को रोक दें, काम बन जाएगा।

अध्यात्म के क्षेत्र में जब स्पंदनों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया तो अनेक स्थापनाएं हुईं। एक स्थापना हुई—प्रतिपक्ष भावना की। स्पंदन पैदा करने का और सूक्ष्म स्तर तक पहुंचने का एक मार्ग है—भावना। भावना का अर्थ है—वैसा हो जाना, ध्येय के अनुरूप हो जाना। प्रतिपक्ष स्पंदनों से बहुत सारी बातें घटित हो जाती हैं। क्रोध का प्रतिपक्षी है—उपशम। क्रोध है तो उपशम के स्पंदन पैदा करो। मान का प्रतिपक्षी है—मृदुता। मान है तो मृदुता के स्पंदन पैदा करो। माया का प्रतिपक्षी है—ऋजुता। माया है तो ऋजुता के स्पंदन पैदा करो। लोभ का प्रतिपक्षी—है संतोष। लोभ है तो संतोष के स्पंदन पैदा करो। यह उपदेश नहीं, सत्य का प्रतिपादन है। इस 'प्रतिपक्ष' संवेदन के द्वारा 'पक्ष' के संवेदनों को

चलेगा तब आत्मरमी स्पंदन पैदा होंगे। उन स्पंदनों से जो सुख की अनुभूति होती वह अपूर्व होगी। इसकी तुलना में कामकेन्द्र के स्पंदनों से होने वाली सुख की अनुभूति नगण्य है। जो व्यक्ति उस अनुभूति तक पहुंच जाता है, वह वहां से नीचे उतरना नहीं चाहता। घंटों तक सुख की अनुभूति में लीन रहता है। वहां से हटने के बाद भी विषाद नहीं होता। उसे उल्टा अधिक आनन्द, अधिक उल्लास और अधिक शक्ति का अनुभव होता है।

एक प्रश्न है—सुख क्या है? ऋण विद्युत् का धन विद्युत् के साथ जो योग है, वह सुख है। यह सामान्य सुख नहीं, आध्यात्मिक सुख है। कामकेन्द्र की निषेधात्मक शक्ति है। उसका योग जब विधायक शक्ति के साथ होता है तब आध्यात्मिक सुख उत्पन्न होता है। तब विचित्र प्रकार के स्पंदन पैदा होते हैं।

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है नाड़ी-संस्थान। यह समूचे शरीर में परि-व्याप्त है। किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन का और इन्द्रियों का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान—सारे यहीं से प्रसारित होते हैं। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्रस्थान है। मनुष्य ऊर्जा को अधोगामी करना ही जानता है, ऊर्ध्वगामी करना नहीं जानता। केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है। इतना-सा ही अन्तर पड़ता है। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है। कामकेन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है। यह केवल विद्युत् का परिवर्तन है। इसे कहा गया—अन्तर्मैथुन, आत्मरति, आत्मरमण। आत्मरमण की बात व्यर्थ नहीं है। प्रश्न होता है कि आत्मा अमूर्त है, दृश्य नहीं है, फिर आत्म-रमण कैसे? प्रश्न ठीक है? इसके समाधान में कहा गया कि आत्म-रमण का केन्द्र हमारे पास विद्यमान है। इसमें हम रमण कर सकते हैं।

शरीर में सात धातुएं हैं। सातवां धातु है—शुक्र, वीर्य। कहा गया है—'मरण बिन्दुपातेन, जीवन बिन्दुधारणात्'—बिन्दु के पात से मरण होता है और बिन्दु के धारण से जीवन प्राप्त होता है। बिन्दु क्या है—इसे ठीक समझना है। मस्तिष्क में, जो प्राण ऊर्जा है, यह जो ग्रे मैटर (grey matter) है, यह जो धूसर हिस्सा है, यही है बिन्दु, यही है वीर्य। 'सहस्रारोपरि बिन्दु'—सहस्रार के ऊपर बिन्दु की अवस्थिति है। उस बिन्दु के साथ जब शक्ति का मिलन होता है तब आत्म-रति पैदा होती है।

बिन्दु के पात से मरण और बिन्दु के रक्षण से जीवन—यह बात बिल्कुल

८. सत्य की खोज

- आयंकदंसी न करेई पावं। [आयारो, ३।३३]
- समत्तदंसी न करेई पावं। [आयारो, ३।२८]
- जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे।
  जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी। [आयारो, २।१७३]

  - जो हिंसा आदि में आतंक देखता है, वह पाप नहीं करता।
  - जो समत्वदर्शी है, वह पाप नहीं करता।
  - जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है।
    जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

- खोज अपने से ही प्रारम्भ करें, जीवन से ही प्रारम्भ करें।
- श्वास से जी रहे हैं, शरीर से जी रहे हैं, मन और चित्त से यात्रा चल रही है, चैतन्य से प्रकाश मिल रहा है।
- बन्द, खुली या अधमुंदी आंखों से देखें—नासाग्र पर, वस्तु पर—स्पन्दन।
- उपलब्ध होंगे—
  - प्रज्ञा, ◦ द्रष्टाभाव, ◦ साक्षित्व, ◦ साम्य, ◦ माध्यस्थ्य।
- क्या देखें?—
  - क्रोधदर्शी—क्रोध को देखें।
  - आतङ्कदर्शी—विपाक को देखें।
  - समत्वदर्शी—साम्य को देखें।

आठ

प्रेक्षा ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है—'सच्चव्रत उवसपज्जामि'—सत्य का व्रत स्वीकार करता हू। ध्यान का सारा प्रयोजन है—सत्य की खोज। जो व्यक्ति ध्यान नही करता वह सत्य की खोज की दिशा में आगे नही बढ़ सकता। हमारे चारो ओर इतने सत्य हैं, इतने सूक्ष्म सत्य हैं, जिन्हे स्थूलदृष्टि से नही देखा जा सकता। उन्हे स्थूल मन से भी नही पकड़ा जा सकता। वे स्थूल चेतना के विषय नही बनते। उन्हें जानने-देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, सूक्ष्म मन की आवश्यकता है और सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता है। ध्यान के बिना दृष्टि को सूक्ष्म नही किया जा सकता, मन को पटु और सूक्ष्म नही बनाया जा सकता। ध्यान के बिना चेतना भी सूक्ष्म नही बन सकती। चेतना पर राग-द्वेष और मन के आवरण जमे हुए हैं। वे जब तक नही टूटते तब तक चेतना मे सूक्ष्मता नही आ सकती। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने मे ही प्रारभ करता है। वह सत्य को बाहर नही खोजता, अपने मे ही खोजता है।

हम सबसे पहले श्वास की प्रेक्षा करते है, श्वास को देखते हैं। हमारे जीवन का पहला तत्त्व है—श्वास। हम श्वास से जी रहे है इसलिए सबसे पहले हमारी सत्य की खोज श्वास से ही प्रारभ हो रही है। हम शरीर से जी रहे है, इसलिए हमारी सत्य की खोज का दूसरा विषय बनता है शरीर, शरीर-प्रेक्षा। हमारी जीवन-यात्रा मन से चलती है, विचार से चलती है, विकल्प से चलती है, चिन्तन से चलती है। हम विचार की प्रेक्षा करते है, मन की प्रेक्षा करते है, विकल्पो की प्रेक्षा करते है, चिन्तन की प्रेक्षा करते है।

हमारे अस्तित्व के मूल मे है—चैतन्य। यह सब चैतन्य के द्वारा चल

मुक्त आत्मा में प्राण के स्पंदन नहीं होते। उसमें केवल चैतन्य के स्पंदन मात्र होते हैं। अचेतन पत्थर में न चैतन्य के स्पंदन होते हैं और न प्राण के स्पंदन होते हैं।

बोलना, चलना, देखना, इन्द्रियों का गतिशील होना, मन का गतिशील होना, बुद्धि का क्रियाशील होना—ये सब प्राणऊर्जा के कार्य हैं। इनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। इन्द्रियां अचेतन हैं। प्राणऊर्जा का योग पाकर वे सचेतन हो जाती हैं। मन अचेतन है। प्राणऊर्जा के प्रवाह से वह भी सचेतन हो जाता है। शरीर अचेतन है। प्राणऊर्जा के प्रवाह से वह सचेतन हो जाता है।

प्राणशक्ति का बड़ा स्रोत है—श्वास। श्वास के साथ केवल रासायनिक द्रव्य ही नहीं जाते, प्राणधारा भी जाती है प्राणशक्ति भी जाती है। जितना गहरा श्वास लेते हैं उतनी ही अधिक प्राणशक्ति जाती है। संकल्प जितना पुष्ट होता है, प्राणशक्ति का प्रवाह भी उतना ही अधिक हो जाता है। जब हम श्वास-दर्शन करते हैं प्राणशक्ति और अधिक बढ़ जाती है। शक्ति के विकास का एक बड़ा सूत्र है—श्वास। जो चमत्कार या प्रदर्शन आज देखने में आते हैं वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्रदर्शन हैं, प्राणिक प्रदर्शन हैं। श्वास के आधार पर मोटर या ट्रक को भी छाती पर से निकाला जा सकता है। श्वास का प्रयोग न हो तो सारा शरीर चरमरा जाता है। हड्डियां टूट जाती हैं। श्वास में अथाह शक्ति है। आत्मा की अनन्त शक्ति का एक अंश श्वास के द्वारा प्रदर्शित होता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, अनन्त वीर्य है, यह सच है। श्वास इसे प्रमाणित करता है।

श्वास को हम कहां देखते हैं? हम देखना जानते ही नहीं। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, उस दुनिया में देखना, जानना जैसा कोई तत्त्व है ही नहीं। वहां केवल है—सोचना, विचारना, तर्क करना। वहां सारा का सारा बौद्धिक व्यायाम है, मन और बुद्धि का कार्य है। सोचो, विचारो, समझो। बस, दुनिया समाप्त। यह है हमारी दुनिया।

श्वास का स्तर चेतना का निम्नतर स्तर है। यदि यहीं हम रुक जाते हैं तो चेतना का मूल स्तर बहुत दूर छूट जाता है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। स्वतन्त्र द्रव्य वह होता है जिसमें कोई विशेष गुण हो। वैसे द्रव्य द्रव्य है। गुण-विशेष ही विभाजक रेखा है। वह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करता है। यदि वह विभाजक रेखा न हो तो द्रव्यों को विभाजित नहीं किया जा सकता। उनकी सत्ता नहीं हो सकती। आत्मा का विशेष गुण है—चैतन्य। यह विभाजक रेखा है। यह गुण आत्मा में ही मिलता है, दूसरे द्रव्यों में नहीं। यदि यह सामान्य गुण होता, आत्मा में भी मिलता और दूसरे द्रव्यों में भी मिलता, पुद्गल में भी

पराजय की बात का कोई मेल नहीं है। सत्ता के प्रश्न में जय-पराजय की बात समझ में आ सकती है। भौतिक पदार्थों की छीना-झपटी में जय-पराजय की बात समझ में आ सकती है। किन्तु जहां केवल सत्य का निरूपण हो, सत्य की खोज हो, वहां कैसी जय और कैसी पराजय ? दर्शन का मूल अर्थ था—देखना। दर्शन पीछे छूट गया और तर्कशास्त्र दर्शन बन गया। अनुमान दर्शन बन गया। परोक्ष दर्शन बन गया। कहां प्रत्यक्ष और कहां परोक्ष ? कहां साक्षात्कार और कहां अनुमान ? इसी दर्शन ने सारे विवादों को जन्म दिया। यह बुद्धि के सहारे चलने वाला दर्शन था। बुद्धि के द्वारा प्रस्थापित किए गए विवाद कभी समाप्त नहीं हो सकते। ये विवाद तभी समाप्त हो सकते हैं जब यथार्थ दर्शन शुरू होता है। विवाद तभी समाप्त होते हैं जब अध्यात्म की चेतना जागृत होती है, जब देखना प्रारम्भ होता है।

श्वास को देखना अध्यात्म की दिशा का पहला चरण है। पहला चरण मूल्यवान् होता है। सही दिशा में उठाया गया पहला कदम मंजिल तक पहुंचाने वाले असंख्य कदमों की शृंखला का एक अंश होता है। वही मंजिल का आदि कदम है। मूल्य इस बात का नहीं है कि आदमी कितना चलता है। मूल्य इस बात का होता है कि उसका चलना किस दिशा में हो रहा है। वह सही दिशा में चल रहा है या विपरीत दिशा में चल रहा है ? विपरीत दिशा भटकाती है। मंजिल तक कभी नहीं पहुंचा पाती। उसकी ओर बढ़ने वाले हजारों-लाखों कदम भी भटक जाएंगे। सही दिशा में उठाया गया एक-एक कदम मंजिल की दूरी कम करता है। एक दिन ऐसा आता है कि अंतिम कदम मंजिल को छू लेता है।

श्वास को देखना आत्म-साक्षात्कार की मंजिल तक पहुंचने का पहला कदम है। जिस सत्य की दिशा में जाना है, उसी दिशा का यह पहला चरण है। श्वास को देखने का अर्थ है—दर्शन की बात पर आ जाना। यहां सोचना छूट जाता है। केवल देखना शेष रहता है। यही दिशा है। देखना शुरू करते ही विचारों पर, विकल्पों पर प्रहार होने लग जाता है। वे बेचारे टूटने लगते हैं। विकल्पों से हट कर अविकल्प पर और चिन्तन से हटकर अचिन्तन पर कदम बढ़ने लगते हैं। यह हमारा पहला प्रस्थान होता है।

हमारे जानने और देखने की यात्रा का, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की यात्रा का पहला प्रस्थान है—श्वास-दर्शन। दूसरा प्रस्थान है—शरीर-दर्शन, शरीर-प्रेक्षा।

शरीर को देखना। यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि जिस शरीर में हम जी रहे हैं, जो हमारा सबसे निकट का मित्र है, उसे हम क्या देखें ? उसके भीतर क्या देखें ? ये प्रश्न तभी होते हैं जब तक हम देखना प्रारंभ नहीं करते। देखना प्रारंभ करते ही सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं। शरीर में बहुत कुछ है देखने

नौकरी की समाप्ति।

मालिक ने कहा—'मैंने तुम्हें सपने लेने के लिए यहां नौकरी नहीं रखा है, चौकीदारी करने के लिए रखा है।'

आचरण का सबसे बड़ा सूत्र है—देखना। प्रत्यक्ष सबसे बड़ा प्रमाण है। परोक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। सब प्रमाण प्रत्यक्ष से छोटे हैं। अनुमान प्रमाण उससे छोटा है, स्मृति प्रमाण उससे छोटा है, आगम प्रमाण उससे छोटा है। आगम भी हम उसको मानते हैं जिसने सत्य को साक्षात् देखा है और फिर कहा है। ऐसे व्यक्ति का कथन आगम बनता है। और वही हमें मान्य होता है। आगम का प्रामाण्य भी दर्शन के आधार पर है। अनुमान भी प्रमाण तब बनता है जब उसकी पृष्ठभूमि में दर्शन हो। 'दृष्टपूर्वोऽयं'—यह मैंने पहले देखा है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है। देखते-देखते यह बात जब पुष्ट होती है तब व्याप्ति बनती है। दर्शन के बिना व्याप्ति नहीं बनती। व्याप्ति प्रत्यक्षमूलक होती है, परोक्षमूलक नहीं। ज्ञान की सारी धारा प्रत्यक्ष से प्रवाहित होती है, परोक्ष से नहीं।

शरीर की प्रेक्षा। शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है, उसे देखें। प्रत्येक क्षण शरीर में कुछ न कुछ घटित होता ही है। उसे देखें। उसकी विपश्यना करें, प्रेक्षा करें। सत्य समझ में आने लगेगा। जब भीतर का सत्य स्पष्ट होगा तो बाहर का सत्य छिपा नहीं रह पाएगा।

देखने के साथ यह प्रश्न होता है कि कैसे देखें ? देखने की प्रक्रिया क्या है ?

प्रेक्षा तीन प्रकार से की जा सकती है—खुली आंखों से देखें, आंखें बंद रखकर देखें और अधखुली आंखों से देखें।

देखने का एक स्रोत है—आंख। आंख बंद कर के भी प्रेक्षा की जा सकती है। आंख बंद कर दी। भीतर के दर्शन की शक्ति को उद्घाटित कर दिया। एक स्रोत खोल दिया जो आंख से भी बड़ा है। दर्शन की शक्ति को हमने खोल दिया और देखना प्रारंभ कर दिया। आंख बंद करके भी देखा जा सकता है और बहुत गहराई तक देखा जा सकता है। जो खुली आंखों से दिखाई नहीं देता वह आंखें बंद कर देने पर प्रज्ञा से देखा जा सकता है।

खुली आंखों से भी देखा जा सकता है। यह अनिमेष प्रेक्षा है। अपलक आंखें, स्थिर आंखें। पलक नहीं झपकता है। अनिमेष प्रेक्षा से भी वस्तु के अन्तस्तल तक पहुंचा जा सकता है। अनिमेष प्रेक्षा प्रारंभ की। सामने एक चेहरा है। उसे देखना प्रारंभ किया। आधा घंटा देखते रहे। चेहरे के हजारों रूप सामने आएंगे। अंत में एक ज्योतिपुंज-सा दीखने लगेगा। प्रकाशपुंज सामने रहेगा। यह अनुभव की बात है, सुनी-सुनाई बात नहीं है।

प्रेक्षा का तीसरा प्रकार है—अधखुली आंखों से देखना। इसका केन्द्र-बिन्दु

- समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा में—
  - नाड़ी-संस्थान शुद्ध होता है।
  - मङ्गलशक्ति जागती है।
  - प्रज्ञा जागती है।
- देह-प्रेक्षा में—
  - रासायनिक क्रिया बदलती है।
  - मूर्च्छा टूटती है।
  - स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव होता है।
  - चैतन्य जागृत होता है।
- कायोत्सर्ग में—
  - देह की जड़ता नष्ट होती है।
  - चैतन्य और पुद्गल का भेद-ज्ञान स्पष्ट होता है।
  - हल्कापन आता है।
  - सुख-दुःख में मध्यस्थता आती है।
  - मति की जड़ता नष्ट होती है।
- अनुप्रेक्षा में—
  - सूक्ष्म विद्युत् उत्पन्न होती है।
  - प्रज्ञा जागती है।
  - व्यवहार का परिवर्तन होता है।
  - सघन मूर्च्छा टूटती है।
- निष्पत्तियां

शारीरिक
- स्वास्थ्य।
- प्रतिरोधात्मक शक्ति।
- रोग के अणुओं का निरसना।
- विश्राम।
- स्वास्थ्य-सिद्धि।

मानसिक
- स्वास्थ्य।
- संयम।
- क्रोध आदि के विकल्पों को क्षीण करना।
- नैष्कर्म्य।
- स्वास्थ्य-सिद्धि।

- आंखें बन्द करने का अर्थ है—सोना या नहीं देखना।
ध्यान में आंखें बन्द करने का अर्थ है—जागना या देखना।

□□

गोपन करती है। बाह्य जगत् में रहने वाला दूसरों के कंधों पर भार डालकर स्वयं हल्का रहना चाहता है। अध्यात्म का साधक दायित्व को ओढ़कर भारी रहता है। वह अपना दायित्व दूसरों पर कभी नहीं डालता।

अध्यात्म साधना की पहली परिणति है - दायित्व को ओढ़ने का बोध, दायित्व को लेने का साहस।

अध्यात्म साधक की भ्रान्तियां सबसे पहले टूटती हैं। वह असत्य से दूर और सत्य के निकट होता है। सामान्यतया आंखें बन्द करने का अर्थ होता है—नहीं देखना, सो जाना। बाहरी दुनिया में आंखें बन्द करने के दो ही अर्थ होते हैं—सो जाना या नहीं देखना। अध्यात्म के क्षेत्र में ये अर्थ बदल जाते हैं। ठीक विपरीत हो जाते हैं। साधक की भ्रान्ति टूट जाती है। उसके लिए आंखें बन्द करने का अर्थ होता है जागना। आंख बन्द करने का अर्थ होता है—भीतर झांकना, भीतर की गहराइयों को देखना। अर्थ बदल जाता है।

जो बाह्य जगत् में जीता है वह मानता है कि सुख बाहर में है। अध्यात्म साधक की यह भ्रान्ति भी टूट जाती है। वह मानने लगता है कि सुख बाहर नहीं, भीतर है। जिसने कभी अध्यात्म का स्पर्श ही नहीं किया वही बाहर सुख की कल्पना कर सकता है। जिसने एक बार भी अध्यात्म के सुख का स्पर्श कर लिया, उसे बाहर में कभी सुख नहीं लगता। भीतर के सुख की तुलना में बाहर के सारे सुख नगण्य हैं। साधक जब भीतर का थोड़ा मार्ग तय करता है तब उसे लगता है कि जो सुख के स्पंदन यहां हैं, वे बाहर दुर्लभ हैं। जो रंग यहां दीखते हैं, उनका अस्तित्व बाहर है ही नहीं। भीतर में जब सुख के स्पंदनों की अनुभूति होने लगती है तब साधक आत्मविभोर होकर उसी में खो जाता है। उसका सारा सम्पर्क अध्यात्म से होता है, बाहर के सारे सम्पर्क टूट जाते हैं। अब वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। इतना तन्मय हो जाता है वह उसमें कि वह अपना भान ही भूल जाता है।

जिस व्यक्ति ने भीतर जाने का प्रयास ही नहीं किया, जिसने भीतरी द्वार का उद्घाटन ही नहीं किया, वह कभी यह अनुभव नहीं कर सकता कि भीतर में क्या कुछ घटित हो रहा है। यह तर्क के द्वारा समझाया नहीं जा सकता। इसका अनुभव ही किया जा सकता है। जो इस मार्ग से नहीं गुजरा है, उसके सामने तर्क व्यर्थ है; मौन श्रेयस्कर है।

अध्यात्म साधना की दूसरी परिणति है—भ्रान्तियों का टूट जाना।

चिकित्सा की भांति साधक भी पहले विवेक करता है और फिर प्रत्याख्यान। विवेक का अर्थ है—पृथक् करना और प्रत्याख्यान का अर्थ है—छोड़ना। जब प्रत्याख्यान होता है तब संयम की चेतना जागती है। संयम अर्थात् अपने में रहो। कम बोलो। कम घूमो। प्रवृत्ति कम करो। इसका परिणाम यह होता है

है। नाड़ी-संस्थान पर नियंत्रण स्थापित होता है। मूर्च्छा टूटती है और चैतन्य जागृत होता है। आत्मा का अस्तित्व किसी शरीर के माध्यम से प्रकट होता है। जो शरीर को देखना नहीं जानता, उसके अन्तर्भाग में अवस्थित चैतन्य-केन्द्रों का दर्शन करना नहीं जानता, वह अपने अस्तित्व को भी नहीं जानता। जिसे अपने अस्तित्व का बोध नहीं होता उसे दायित्व का बोध नहीं होता।

उपसंपदा

साधना-केन्द्र साधना का स्थल है। यहां साधक खाली आते हैं और भरकर जाते हैं या यों कहें कि भरे हुए आते हैं और खाली होकर जाते हैं। दोनों बातें संभव हैं। जो भरकर आए हैं उन्हें खाली होकर जाना है और जो खाली होकर आए हैं, उन्हें भरकर जाना है। अध्यात्म-साधना खाली होने का भी प्रयत्न है और भरने का भी प्रयत्न है। जो वमनीय है, जो परित्याग के योग्य है उसे छोड़ना है और जो भरने योग्य है उसे भरना है।

साधना प्रारंभ करने से पूर्व सब प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा स्वीकार करें। सभी साधक सुखासन में बैठ, बद्धांजलि होकर सुनें। शरीर शिथिल, मन तनावमुक्त रहे। मैं कुछ सूत्रों का उच्चारण करूंगा। आप उसी लय में उनका प्रत्युच्चारण करें—

'अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।'
मैं प्रेक्षा-ध्यान की आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूं।
'मग्गं उवसंपज्जामि।'
मैं अध्यात्म-साधना का मार्ग स्वीकार करता हूं।
'सम्मत्तं उवसंपज्जामि।'
मैं अन्तर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।
'संजमं उवसंपज्जामि।'
मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।

यह प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा है। इसके पांच सूत्र हैं। इसका पहला सूत्र है—भावक्रिया। इसके तीन अर्थ हैं—

का स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र सत्ता तब स्थापित होती है जब वह स्वतन्त्र क्रिया करे। यदि उसकी सारी प्रवृत्तियां प्रतिक्रियात्मक ही होती हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। वह अपनी स्वतन्त्रता का स्वयं ही खंडन कर रहा है। वह पूर्ण परतन्त्रता को पोषित करता है और दूसरों के हाथ का एक खिलौना मात्र बन जाता है। साधक को ऐसा नहीं होना चाहिए। वह क्रिया करे, प्रतिक्रिया नहीं।

आज का आदमी स्वतन्त्र बुद्धि से काम नहीं कर रहा है। वह बाह्य वातावरण, परिस्थिति और आसपास के कार्य-कलापों से प्रभावित होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। वह आवेग या उत्तेजना के वशीभूत होकर कार्य करता है, वह भी प्रतिक्रिया है।

सारा का सारा इन्द्रिय-व्यवहार प्रतिक्रियात्मक होता है। हम आंख से देखें और कान से सुनें, किन्तु कोई संस्कार प्रतिक्रिया पैदा कर रहा है इसलिए देखें या सुनें तो यह देखना और सुनना स्वतन्त्र क्रिया नहीं है, प्रतिक्रियात्मक क्रिया है। स्वतन्त्र चेतना से देखना या सुनना ही स्वतन्त्र देखना या सुनना है।

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओतप्रोत हो। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। किसी व्यक्ति को सांप काटे और वह सोचे—'कितना अज्ञानी है! नहीं समझ पा रहा है। व्यर्थ ही क्रोध के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट देता है! इसका भी कल्याण हो। इसे सही दृष्टि मिले। इसका क्रोध शांत हो। यह किसी को न काटे।' इस प्रकार सांप पर भी जो सीधे नेत्रों से इस प्रकार करुणावृष्टि करता है वह सबका मित्र होता है। उसमें मैत्री का विकास चरम बिन्दु पर है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति प्रतिक्रिया से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईंट का जवाब पत्थर से, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—ये सब बातें चलती हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें केवल वही व्यक्ति रोक सकता है जिसने इस सचाई को समझ लिया है कि स्वतन्त्र अस्तित्व का धनी आदमी प्रतिक्रिया का जीवन न जीए। वह क्रिया का जीवन जीए। यह सचाई जब हृदयंगम हो जाती है तब मैत्री स्वयं फलित होती है।

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। परिमित भोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है साधना में। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। आदमी अनावश्यक बहुत खाता है। इसके पीछे देशगत, परम्परागत, समाजगत या भोजन के ज्ञान का अभाव—कुछ भी कारण हो सकता है। यह चल रहा है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। खाया हुआ पच नहीं पाता क्योंकि उसको पचाने वाला रस पूरी मात्रा में नहीं मिलता। भोजन उतना ही पचता है जितना उसे पाचन-रस प्राप्त होता है।

१. शक्ति-जागरण : मूल्य और प्रयोजन

- जीवन की दो धाराएं—(१) शक्तियुक्त धारा (२) शक्तिशून्य धारा।
- शक्ति अविकसित
  - शक्ति अप्रयुक्त।
- शारीरिक शक्ति—जो प्राणशक्ति शरीर के माध्यम से प्रकट।
- मानसिक शक्ति—जो प्राणशक्ति मन के माध्यम से प्रकट।
- शक्ति प्रत्येक पदार्थ में—
  चेतन में चेतना, आनन्द और शक्ति का समन्वय।
- मनुष्य विकसित चेतना वाला अतः शक्ति का विकास कर सकता है।
- *विकसित शक्ति खतरनाक उसका सम्यक् उपयोग, उसका दिशा-दर्शन अध्यात्म द्वारा।*
- हम सूक्ष्म से परिचय प्राप्त करें।
- शक्ति-जागरण का पहला सूत्र—सूक्ष्म की शक्ति से परिचित होना।
- स्थूल शरीर की सूक्ष्म रचना—
  - मस्तिष्क में १ खरब न्यूरॉन।
  - ज्ञान-तन्तु—एक लाख मील लंबे।
  - कोशिकाएं—साठ अरब।
- शरीर शक्ति का माध्यम—
  प्रमाद योग से, योग वीर्य से, वीर्य शरीर से, शरीर जीव से।
- चेतना और शक्ति का समन्वय।
- मनुष्य में शक्ति के विकास की क्षमता।
- विकसित शक्ति का सम्यक् प्रयोग करें।

□□

स्वीकार करता हूँ। किन्तु एक बात मैं पूछना चाहता हूं कि धनुष्य खंडित है, प्रत्यंचा टूटी हुई है, तो क्या कोई उस धनुष्य पर बाण चढ़ा सकेगा ? बाण चढ़ाने वाला तरुण है, समर्थ है, शक्तिशाली है, फिर भी वह उस धनुष्य पर बाण नहीं चढ़ा पाता। यदि धनुष्य अखंडित है, प्रत्यंचा टूटी हुई नहीं है तो फिर कोई युवा उस पर बाण चढ़ा सकता है। धनुष्य पुराना है, उससे बाण नहीं फेंका जा सकता। धनुष्य नया है, उससे बाण फेंका जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि बालक के उपकरण पर्याप्त नहीं हैं। वह धनुष्य पर बाण नहीं चढ़ा सकता। युवा के उपकरण पर्याप्त हैं, वह धनुष्य पर बाण चढ़ा सकता है। यह अन्तर उपकरणों की पर्याप्तता या अपर्याप्तता का है, आत्मा का नहीं। बच्चे की आत्मा और युवा की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु बच्चे के उपकरण अभी अपर्याप्त हैं, जैसे टूटे हुए धनुष्य के उपकरण अपर्याप्त हैं। नए धनुष्य के उपकरण पर्याप्त हैं जैसे युवा के उपकरण पर्याप्त होते हैं।'

प्रश्न है उपकरण का, आत्मा का प्रश्न नहीं है। इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि हमारा जीवन तीन आयामों में चलता है—आत्मा, शरीर और शरीर की शक्ति। आगमों में कहा गया है कि हमारा जीवन 'त्रिदंड' है—एक दंड है शक्ति, एक है शरीर और एक है आत्मा। आत्मा बहुत दूर है। मैं क्षेत्रीय दूरी की बात नहीं कर रहा हूं। आत्मा इतना भीतर है, इतना भीतर कि वह चर्मचक्षुओं से दीखता ही नहीं। वहां हमारी पहुंच नहीं है।

हम इन तीन आयामों में जीते हैं—आत्मा, शरीर और शक्ति। हमारी एक कठिनाई है। हम स्थूल को बहुत जानते हैं, सूक्ष्म को नहीं जानते। हम सूक्ष्म को जानने का प्रयत्न भी कहां करते हैं ? इसीलिए नहीं करते कि हमारा उससे परिचय नहीं है। जिससे परिचय नहीं होता है, उसके विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सकता है। जिससे परिचय होता है, उसीके विषय में हम कुछ जान सकते हैं। हम सूक्ष्म से अपरिचित हैं।

दर्शनशास्त्र में एक प्रश्न बहुत चर्चित होता रहा है कि सूक्ष्म का अस्तित्व है या नहीं ? जो इन्द्रियों के द्वारा दिखाई दे रहा है, वही है या उससे परे भी कुछ है ? इस चर्चा से दो शब्द प्रस्तुत हुए—इन्द्रियगम्य और अतीन्द्रियगम्य अथवा हेतुगम्य और अहेतुगम्य।

कुछ दार्शनिकों ने उसे ही सत्य माना जो इन्द्रियगम्य है। जो इन्द्रियगम्य होता है वह निश्चित ही हेतुगम्य होता है। उसे सिद्ध करने के लिए हेतु और तर्क दिए जाते हैं। हेतु और तर्क उसको गम्य कराने में सक्षम होते हैं, इसलिए वह हेतुगम्य कहलाता है। इस रेखा पर दार्शनिकों की एक विचारधारा चलती रही।

दर्शन की दूसरी विचारधारा ने इससे आगे बढ़कर कहा—सत्य अतीन्द्रि

मन् है और जिसमे शक्ति और चेतना—दोनो होते हैं वह चेतन है। परमाणु मे शक्ति है, किन्तु चेतना नही है। आत्मा मे शक्ति भी है और चेतना भी है।

शक्ति और चेतना का योग—यह हमारी विशेषता है। इसीलिए हम चेतनावान् है, संवेदनशील हैं। हम अनुभव करते है, संवेदन करते हैं और अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। आज के विज्ञान ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि *एक परमाणु में इतनी शक्ति है कि यदि उसका विस्फोट हो जाए [किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है]* तो सारा संसार नष्ट हो सकता है। परमाणु में अनन्त शक्ति होती है। आत्मा मे भी अनन्त शक्ति होती है। परमाणु मे कभी विस्फोट होता नही, यह एक जागतिक सचाई है, यूनिवर्सल ट्रुथ है।

परमाणु मे जब इतनी शक्ति है तब कल्पना करें कि चेतना मे कितनी शक्ति होगी। शक्ति भी अनन्त और चेतना भी अनन्त। दोनों का योग है मनुष्य में। *अब उसके सामर्थ्य का अन्दाजा लगाया जा सकता है? शक्ति के इस अक्षय भंडार* का स्वामी मनुष्य क्या नही कर सकता? धर्म की साधना, मन को पकड़ना—ये तो प्रारंभिक बातें है। हमारी साधना मन को पकड़ने की साधना नही है, मन को समाप्त करने की साधना है, अमन होने की साधना है।

कुछ प्राणी समनस्क होते हैं और कुछ अमनस्क। कुछ प्राणियो को मन प्राप्त है और कुछ प्राणियों को मन प्राप्त नही है। समनस्क प्राणी संज्ञी कहलाते हैं और अमनस्क प्राणी असंज्ञी।

मनुष्य समनस्क प्राणी है। उसे संज्ञा उपलब्ध है। उसका मन विकसित है। किन्तु एक अवस्था ऐसी भी होती है जिसमें मनुष्य 'नो-संज्ञी नो-असंज्ञी' बन जाता है। वह 'नो-मन' बन जाता है। मन नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है। मन उत्पन्न ही नही होता। उस अवस्था मे केवल चेतना शेष रहती है। यह शक्ति के विस्फोट का परिणाम है, शक्ति की निष्पत्ति है। मनुष्य अपनी इस अनन्त शक्ति को पहचाने और उसको विकसित करे।

शक्ति का विकास प्रयत्न-सापेक्ष है। जितनी भी साधनाएं चलती है, वे सब शक्ति के विकास के लिए ही है। साधना इसीलिए होती है कि सुप्त चेतना जागे, सुप्त शक्तियो का विकास हो। मनुष्य मे शक्ति है, पर जब तक वह सुप्त रहती है तब तक कोई निष्पत्ति नही आती। सांप कुंडली लगाकर बैठा है। शान्त है। किसी को उसका भय नहीं सताता। जब वही सांप फुफकारता है, तब सारा वातावरण भय से कांप उठता है। बुझी हुई आग पर बच्चा भी पैर रखकर चल सकता है। जब वह आग धधकती है, तब बड़े-बड़े भी उसके पास जाने से हिचकते है।

जब शक्तियां सोई हुई रहती है तब मनुष्य बुझी हुई आग की भांति निष्क्रिय जीवन जीता है। जब शक्तियों का जागरण होता है तब वही मनुष्य दुर्धर्ष

दो

वर्तमान युग ने शल्य-चिकित्सा मे कीर्तिमान स्थापित किए हैं। मनुष्य (प्राणियों) के शरीर की चीरफाड जितनी इस युग में हुई है उतनी अतीत मे नही हुई। यदि हुई हो तो भी उसका विशद उल्लेख प्राप्त नही है। आज के शल्य-चिकित्सक ने शरीर के प्रत्येक हिस्से को खोलकर देख लिया है, जान लिया है। उसमे कोई भी हिस्सा अज्ञात नही है। समूचे शरीर की चीरफाड कर लेने पर भी उसे शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नही मिला। बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। इसके आधार पर यह धारणा बनी कि शरीर मे शरीर के अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

प्राचीन काल की बात है। महाराजा प्रदेशी ने आत्मा के विषय में कुछ प्रयोग किए थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था, जानना चाहता था। उसने जीवित शरीर को तौला, मृत शरीर को तौला। वह जानना चाहता था कि आत्मा का वजन कितना है ? वह भारहीन है या भारयुक्त ? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा मे प्रयत्न किया है। उनके पास सूक्ष्मतम उपकरण है। प्राचीन मान्यता में कुछ अन्तर आया है। महाराज प्रदेशी के पास सूक्ष्म उपकरण नहीं थे। वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका।

उसने दूसरा प्रयोग किया। आदमी के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। प्रदेशी पास में बैठा रहा। वह यह देखना चाहता था कि यदि शरीर मे आत्मा नाम का कोई तत्त्व होगा तो वह अवश्य ही किसी अवयव से बाहर निकलेगा। वह देखता रहा। कुछ भी नहीं दीखा।

प्रयोग पहले भी होते थे। प्रयोग आज भी होते हैं। किन्तु आज भी यह प्रश्न असमाहित ही है कि आत्मा है या नही ? उसमे भार है या नहीं ? वह दृश्य है या

दो

वर्तमान युग ने शल्य-चिकित्सा में कीर्तिमान स्थापित किए है। मनुष्य (प्राणियों) के शरीर की चीरफाड जितनी इस युग मे हुई है उतनी अतीत मे नही हुई। यदि हुई हो तो भी उसका विशद उल्लेख प्राप्त नही है। आज के शल्य-चिकित्सक ने शरीर के प्रत्येक हिस्से को खोलकर देख लिया है, जान लिया है। उससे कोई भी हिस्सा अज्ञात नही है। समूचे शरीर की चीरफाड कर लेने पर भी उस शरीर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला। बहुत सूक्ष्म निरीक्षण के बाद कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। इसके आधार पर यह धारणा बनी कि शरीर में शरीर के अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

प्राचीन काल की बात है। महाराजा प्रदेशी ने आत्मा के विषय में कुछ प्रयोग किए थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष देखना चाहता था, जानना चाहता था। उसने जीवित शरीर को तोला, मृत शरीर को तोला। वह जानना चाहता था कि आत्मा का वजन कितना है? वह भारहीन है या भारयुक्त? वर्तमान के वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया है। उनके पास सूक्ष्मतम उपकरण है। प्राचीन मान्यता में कुछ अन्तर आया है। महाराज प्रदेशी के पास सूक्ष्म उपकरण नहीं थे। वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका।

उसने दूसरा प्रयोग किया। आदमी के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। प्रदेशी पास में बैठा रहा। वह यह देखना चाहता था कि यदि शरीर में आत्मा नाम का कोई तत्त्व होगा तो वह अवश्य ही किसी अवयव से बाहर निकलेगा। वह देखता रहा। कुछ भी नही दीखा।

प्रयोग पहले भी होते थे। प्रयोग आज भी होते हैं। किन्तु आज भी यह प्रश्न असमाहित ही है कि आत्मा है या नहीं? उसमें भार है या नहीं? वह दृश्य है या

हो, सूक्ष्म हो या सूक्ष्मतम हो।

शरीर के अणु-अणु को देख लिया। हड्डियां, मांस, मज्जा, रक्त आदि दिखाई दिए। और आगे बढ़े। सूक्ष्मता में प्रवेश किया। कोशिकाओं के केन्द्रों की जानकारी हुई। कुछ और आगे बढ़े और सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को न मानने की बात समाप्त हो गई। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं ने जो प्रत्यक्ष किया था जिन्होंने सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकारा था, आज का विज्ञान सूक्ष्म उपकरणों से वहां तक पहुंच गया। उसने तैजस शरीर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। आत्मा को मानने की बाधा पूर्णत: समाप्त नहीं हुई है। विज्ञान उस दिशा में गतिशील है, परन्तु अभी तक वह किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया है। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं की दृष्टि से आत्मा की स्वीकृति में कोई बाधा नहीं है किन्तु विज्ञान के आधार पर उसे पूर्ण स्वीकृति देना संभव नहीं है।

साधना का प्रयोजन है स्थूल शरीर को भेद कर सूक्ष्म शरीर तक पहुंचना। हम पहले स्थूल शरीर के प्रकंपनों को देखें, स्थूल शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को देखें, स्थूल शरीर में घटित होने वाले जैविक परिवर्तनों को देखें और ग्रंथियों के स्रावों को देखें—समझें।

शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, एक पर्याय प्रकट हो रहा है, दूसरा पर्याय नष्ट हो रहा है। यह उत्पाद और व्यय का चक्र निरंतर चल रहा है। उस चक्राकार पर्याय के स्रोत को हम देखें। इतना ही देखना पर्याप्त नहीं है। यह तो केवल स्थूल को देखना ही हुआ। हमें सूक्ष्म को भी देखना है। हम देखने की अपनी शक्ति को इतना विकसित करें कि किसी उपकरण या यंत्र की सहायता के बिना भी हम तैजस शरीर को साक्षात् देख सकें, आभा-मंडल को देख सकें और आगे बढ़कर कर्मशरीर को भी देख सकें। उसमें होने वाले कर्म-विपाकों को भी देख लें। इन सबको देखकर हम उसको भी देख लें जहां देखने वाला और देखना दो नहीं रहते। देखने वाला स्वयं देखने वाला ही रहे, द्रष्टा ही रहे। द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, उसे भी देखें। हम चलते-चलते अपने चैतन्य के मूल स्वरूप में चले जाएं, उसमें अवस्थित हो जाएं। बहुत लंबी यात्रा है। अभी हमने यात्रा का प्रारंभ ही किया है। हमें बहुत दूर पहुंचना है। हम उत्साह, वीर्य और शक्ति को बढ़ाएं जिससे कि यात्रापथ निर्बाध हो सके और हम यात्रा को आनन्दपूर्वक संपन्न कर लक्ष्य तक पहुंच सकें।

भगवान् महावीर से पूछा—"भंते ! प्रमाद किससे प्रवाहित होता है ?"

"वत्स ! प्रमाद योग (प्रवृत्ति) से प्रवाहित होता है।"

"भंते ! योग किससे प्रवाहित होता है ?"

"वत्स ! योग वीर्य से प्रवाहित होता है।"

"भंते ! वीर्य किससे प्रवाहित होता है ?"

हो, सूक्ष्म हो या सूक्ष्मतम हो।

शरीर के अणु-अणु को देख लिया। हड्डियां, मांस, मज्जा, रक्त आदि दिखाई दिए। और आगे बढ़े। सूक्ष्मता में प्रवेश किया। वृत्तियों के केन्द्रों की जानकारी हुई। कुछ और आगे बढ़े और सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को न मानने की बात समाप्त हो गई। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं ने जो प्रत्यक्ष किया था, जिन्होंने सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को स्वीकारा था, आज का विज्ञान सूक्ष्म उपकरणों से वहां तक पहुंच गया। उसने तैजस शरीर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। आत्मा को मानने की बाधा पूर्णत: समाप्त नहीं हुई है। विज्ञान उस दिशा में गतिशील है, परन्तु अभी तक वह किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया है। अतीन्द्रिय द्रष्टाओं की दृष्टि से आत्मा की स्वीकृति में कोई बाधा नहीं है किन्तु विज्ञान के आधार पर उसे पूर्ण स्वीकृति देना संभव नहीं है।

साधना का प्रयोजन है स्थूल शरीर का भेद कर सूक्ष्म शरीर तक पहुंचना। हम पहले स्थूल शरीर के प्रकम्पनों को देखें, स्थूल शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को देखें, स्थूल शरीर में घटित होने वाले जैविक परिवर्तनों को देखें और वृत्तियों के स्रावों को देखें—सतत।

शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, एक पर्याय प्रकट हो रहा है, दूसरा पर्याय नष्ट हो रहा है। यह उत्पाद और व्यय का चक्र निरंतर चल रहा है। उस चक्राकार पर्याय के स्रोत को हम देखें। इतना ही देखना पर्याप्त नहीं है। यह तो केवल स्थूल को देखना ही हुआ। हमें सूक्ष्म को भी देखना है। हम देखने की अपनी शक्ति को इतना विकसित करें कि किसी उपकरण या यंत्र की सहायता के बिना भी हम तैजस शरीर को साक्षात् देख सकें, आभा-मंडल को देख सकें और आगे बढ़कर कर्मशरीर को भी देख सकें। उसमें होने वाले कर्म-विपाकों को भी देख लें। इन सबको देखकर हम उसको भी देख लें जहां देखने वाला और देखना दो नहीं रहते। देखने वाला स्वयं देखने वाला ही रहे, द्रष्टा ही रहे। द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, उसे भी देखें। हम चलते-चलते अपने चैतन्य के मूल स्वरूप में चले जाएं, उसमें अवस्थित हो जाएं। बहुत लंबी यात्रा है। अभी हमने यात्रा का प्रारंभ ही किया है। हमें बहुत दूर पहुंचना है। हम उत्साह, वीर्य और शक्ति को बढ़ाएं जिससे कि यात्रापथ निर्बाध हो सके और हम यात्रा को आनन्दपूर्वक संपन्न कर लक्ष्य तक पहुंच सकें।

भगवान् महावीर से पूछा—"भंते! प्रमाद किससे प्रवाहित होता है?"

"वत्स! प्रमाद योग (प्रवृत्ति) से प्रवाहित होता है।"

"भंते! योग किससे प्रवाहित होता है?"

"वत्स! योग वीर्य से प्रवाहित होता है।"

"भंते! वीर्य किससे प्रवाहित होता है?"

है। वह कर्ता है। उसने ही मार्ग निर्माण किया है।

हमें जीव तक पहुंचना है। उस द्रष्टा और ज्ञाता तक पहुंचना है, जो पर्दे के पीछे है। किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए पैरों में शक्ति चाहिए। पंगु पहाड़ पर नहीं चढ़ पाता। पंगु लंबी यात्रा नहीं कर पाता। पैरों में पर्याप्त शक्ति चाहिए। पैरों की सुविधा के लिए हम जिन वाहनों का उपयोग करते हैं, वे भी शक्तिशाली होने चाहिए। शक्ति चाहे पैरों की हो या वाहन की। शक्ति की प्रमुखता है। शक्तिशून्य का कोई उपयोग नहीं है। एक आसन में बैठने के लिए शक्ति चाहिए। साधना करने के लिए शक्ति चाहिए। लंबे ध्यान के लिए शक्ति चाहिए। शक्ति-हीन कुछ नहीं कर पाता।

शक्ति को जागृत कैसे करें? शक्ति-जागरण के सूत्र कौन-से हैं? हम शक्ति-जागरण के सूत्रों को खोजें। उन्हें उपलब्ध कर शक्ति को जागृत करें।

शक्ति-जागरण का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास-प्रेक्षा। यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे समझने से पहले हम श्वास को समझ लें। श्वास का सम्बन्ध बहुत गहन है। वह बहुत गहराई में चला जाता है। इसे समझने के लिए जड़ को समझना जरूरी है, फूल को समझना जरूरी नहीं है। बहुत साधारण बात है कि जो जड़ को नहीं समझता वह फूल के रहस्य को भी नहीं समझ सकता। जिसका ध्यान जड़ की ओर जाता है, जो जड़ को समझ लेता है उसके लिए सब बातें सरल हो जाती हैं।

श्वास की जड़ को समझें। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से और पर्याप्ति का संबंध है कर्मशरीर से। कर्म-शरीर श्वास की जड़ है। श्वास इसमें जुड़ा हुआ है। जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल में उसके दो शरीर होते हैं—एक तैजस शरीर और दूसरा कार्मण शरीर। इन दोनों शरीरों के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति-स्थान तक पहुंच जाती है। उत्पत्ति के पहले क्षण में आत्मा कर्मशरीर के द्वारा आहार ग्रहण करती है। उसे कर्मशास्त्रीय भाषा में ओज आहार कहते हैं और विज्ञान की भाषा में उसे ऊर्जा का आहार कह सकते हैं। हमारा जीवन तब तक रहता है जब तक ओज आहार है, ऊर्जा का आहार है। जब ओज आहार समाप्त हो गया, ऊर्जा समाप्त हो गई तो लाख उपाय करने पर भी जीवन टिकता नहीं, समाप्त हो जाता है। इसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। यही है जीवनी शक्ति, जो जीवन को टिकाए रखती है।

ओज आहार या ऊर्जा के आहार का संचय जीव पहले ही क्षण में पूरा कर लेता है। उसके पश्चात् स्थूल शरीर का निर्माण होता है। हमारे स्थूल शरीर का जितना विकास होता है, उसमें जितनी नाड़ियां बनती हैं, जितने चक्र और जितने

प्रतिपादन किया। विज्ञान अभी तक वहां नहीं पहुंच पाया है। इसकी पहुंच स्थूल शरीर तक हुई और उसने उस स्थूल शरीर का सूक्ष्मतम व्याख्या की। हम दोनों—कर्मशास्त्रीय विश्लेषण और शरीर-शास्त्रीय विश्लेषण को मिलाकर देखें। हमें प्रतीत होगा कि दोनों का स्वर एक है। दोनों एक ही बात बता रहे हैं। केवल भूमिका का भेद मात्र है। धर्मशास्त्रीय भूमिका शरीरशास्त्रीय भूमिका से ऊपर है। कर्मशास्त्र के वेत्ताओं ने मूल बिम्ब को देखकर प्रतिपादन किया और शरीरशास्त्र के वेत्ता प्रतिबिम्ब को देखकर प्रतिपादन कर रहे हैं। वे बिम्ब की भाषा में बोले और ये प्रतिबिम्ब की भाषा में बोल रहे हैं। भाषा तो एक ही होगी। कांच में प्रतिबिम्ब पड़ता है। आदमी बाहर खड़ा है। उसी का प्रतिबिम्ब कांच में पड़ता है। प्रतिबिम्ब वही होगा जो मूल बिम्ब है। इसमें अन्तर कैसे आएगा? बिम्ब कुछ हो और प्रतिबिम्ब कुछ और ही आए, यह नहीं हो सकता। जो बिम्ब है उसीका प्रतिबिम्ब आएगा। धर्मशास्त्रियों ने बिम्ब की भाषा में सारा प्रतिपादन किया और शरीरशास्त्रियों ने प्रतिबिम्ब की भाषा में सारा प्रतिपादन किया। दोनों में भाषा का अन्तर हो सकता है, तथ्य का नहीं। शरीरशास्त्री हारमोन्स, मिक्शिन ऑफ ग्लेण्ड्स, ग्रन्थियों का स्राव कहते हैं। कर्मशास्त्री कर्मों का रस विपाक, अनुभावबंध कहते हैं। वह भी रस और यह भी रस। भाषा भी मिल गई।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है उसका रसस्राव ग्रन्थियों के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियों को सचालित करता है, प्रभावित करता है। यदि हम इसे उचित रूप से जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर तक कभी नहीं रुकेंगे, और आगे बढ़ेंगे। साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढ़ते जाएं, स्थूल शरीर पर ही न रुकें, उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुंच जाएं। हमें उन रसायनों तक पहुंचना है जो कर्म के द्वारा मिश्रित हो रहे हैं। वहां भी हम न रुकें, आगे बढ़ें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुंचें जो उन स्रावों को मिश्रित कर रहे हैं।

स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल है आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ़कर, आत्मपरिणामों तक पहुंचें।

उपादान और निमित्त को समझे बिना साधना को ठीक से नहीं समझा जा सकता। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा, परिणामों को भी समझना होगा। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरंतर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं तो परिणाम विशुद्ध होते हैं और यदि वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियों को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रों की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम अशुद्धित होते हैं। जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियों को उत्तेजित

नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस प्रतिपादन से एक बहुत बड़ी सचाई का उद्घाटन होता है कि शरीर में अनेक संवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रों पर मन को एकाग्र कर, मन से उनकी प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारों का उद्घाटन कर सकते हैं, ऐसी खिड़किया खोल सकते हैं, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियां बाहर निकल सकें और अघटित को घटित कर सकें।

हम मूल को समझें। श्वास का संबंध है प्राण से। प्राण का संबंध है पर्याप्ति से अर्थात् सूक्ष्म प्राण से। यह जीवन के पहले ही क्षण में निर्मित हो जाता है। प्राण को भी प्राण चाहिए। जो सूक्ष्म शरीर का प्राण है, उसे भी प्राण चाहिए। यह प्राण आकाश-मंडल से प्राप्त होता है। सारे शरीर में, सारे आकाश-मंडल में प्राणतत्त्व फैला हुआ है, आहार-पर्याप्ति के योग्य वर्गणाएं सारे आकाश में फैली हुई हैं। ऊर्जा की या प्राणशक्ति की वर्गणाएं फैली हुई हैं। वे प्राप्त होती हैं श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नहीं लेते, उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार भी जब हम श्वास लेते हैं तो ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं, नाइट्रोजन लेते हैं और भी न जाने कितनी गैसें और कितने तत्त्व ग्रहण करते हैं। किन्तु कर्मशास्त्र की भाषा में हम प्राण लेते हैं। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को संवर्द्धित करता है, पोषण देता है।

जैन आगम भगवती और प्रज्ञापना में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कब आहार लेता है और कितनी दिशाओं से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व दिशा और अधोदिशा—छहों दिशाओं से आहार लेता है। वहां केवल आहार का प्रसंग ही नहीं है। रोम आहार भी अल्प मात्रा में होता है। वहां आहार का अर्थ ही है—प्राणतत्त्व का आहार। जीव जीवित रहने के लिए निरंतर बाहर से आहरण करता है, वह निरंतर प्राणऊर्जा लेता है। यह आहरण कभी नहीं रुकता।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है श्वास। यह निरंतर चलता है तो आहरण भी निरंतर चलता है। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का संबंध है सूक्ष्म शरीर से, कर्मशरीर से। हम दीर्घश्वास लेते हैं, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि हम शक्ति के मूल स्रोतों को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। दीर्घश्वास को देखने की बात बहुत छोटी-सी लगती है, किन्तु यह बहुत गहरी बात है। एक अंगुली को पकड़कर समूचे घर के स्वामी बन जाने की बात है। हम इस प्रक्रिया में केवल प्राण को ही नहीं पकड़ रहे हैं, समूची प्राणशक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे-जैसे हम श्वास को दीर्घ करते हैं, हम पूरी ऊर्जा को खींचते हैं और उसे देखते हैं तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते हैं, जिसके विस्फोट के द्वारा हमें नई-नई उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। नई दिशाओं के

तीन

विश्व में जितने प्राणी हैं सब यौगिक हैं, कोई भी शुद्ध नहीं हैं। जीव है। शरीर है। चेतना शरीर के बिना अभिव्यक्त नहीं होती और शरीर चेतना के बिना निर्मित नहीं होता। चेतना और शरीर—इन दोनों का योग है, इसीलिए सभी प्राणी यौगिक हैं। शुद्ध चेतना जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। यह मात्र भावी की कल्पना हो सकती है। न जाने जीव और शरीर, चेतना और शरीर कब से साथ हैं? इसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। यह कब से है? क्यों है? कैसे है?—ये प्रश्न अनुत्तरित ही हैं। इसके लिए इतना मात्र कहा जा सकता है कि यह सब अनादि काल से है। वह काल जिसकी आदि नहीं है, शुरुआत नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे पास इसका कोई उत्तर नहीं है। यह योग अनादि है। ऐसा लगता है कि जीव और पुद्गल में एक समझौता है। पुद्गल की एक शर्त है जीव के साथ कि तुम मेरी सीमा से बाहर नहीं जा सकते, मेरे प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं हो सकते। जीव अनादिकाल से शरीर के प्रभाव-क्षेत्र में रह रहा है, उसकी सीमा से मुक्त नहीं हो रहा है। जीव की भी एक शर्त है पुद्गल (शरीर) के साथ कि तुम मेरे मौलिक अस्तित्व को निर्मूल नहीं कर सकते, विभक्त नहीं कर सकते। शरीर अपनी शर्त को निभा रहा है। वह जीव के मौलिक स्वरूप को विकृत नहीं कर रहा है। जीव मौलिक स्वरूप में है, पर वह शरीर के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नहीं है। शरीर जीव पर अपना प्रभाव डाल रहा है, किन्तु उसकी मौलिक सत्ता को कभी निर्मूल नहीं कर पाता। इसी आधार पर बहुत कुछ बताया गया है।

जानना एक बात है और उसे बताना दूसरी बात है। जानना स्वगत होता है। बताने में भाषा का माध्यम लिया जाता है। भाषा की अपनी सीमा है अत:

और विघटन नहीं है। जो न जुड़ता है और न बिखरता है। जो न स्वयं बनता है और न कुछ और। वह आकाश का अवगाहन करता है पर उसको रोकता नहीं। वह अप्रतिहत है। ऐसा एक भी स्थान नहीं जहां वह न हो, जहां वह न रहे। यह है अरूपी सत्ता।

अरूपी सत्ता और चेतन सत्ता—दोनों इन्द्रिय और मन के परे हैं। यदि हम इन्हें इन्द्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से जानना चाहें तो हम कभी नहीं जान पायेंगे। क्योंकि इन्द्रिय, मन या बुद्धि के ये विषय नहीं बनते। जो जिसका विषय नहीं है, उसे उसके द्वारा समझने का प्रयत्न करना व्यर्थ है, प्रयत्न की कोई सार्थकता नहीं हो सकती। हम उसीके द्वारा उस विषय को जान सकते हैं जो जिसका साधन बन सके, समक्ष और ज्ञापक बन सके। दूसरे-दूसरे साधनों की क्षमता के परे की बात है। उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

यदि कोई व्यक्ति चेतनसत्ता को स्वीकार नहीं करता, अरूपी सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो कोई आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तब हो जब बुद्धि से जानने की बात भी बुद्धि से न जानी जाए। तब माना जा सकता है कि इस व्यक्ति में बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। इसके लिए उपाय करना चाहिए। एक मंदबुद्धि का आदमी है और एक प्रखर बुद्धि का आदमी है। दोनों में तरतमता है। इस तरतमता को मिटाने के लिए प्रयत्न होता है। बुद्धि का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। एक व्यक्ति की स्मृति कमजोर है और दूसरे व्यक्ति की स्मृति प्रखर है। तब कमजोर व्यक्ति की स्मृति को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु जहां कोई तारतम्य का प्रश्न ही नहीं है, वहां विकास की बात प्राप्त नहीं होती। बुद्धि और स्मृति के विकास को चरम बिन्दु तक पहुंचाया जा सकता है फिर भी अरूपी तत्त्व को नहीं देखा जा सकता। किन्तु अतीन्द्रियज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचकर जिन्होंने इस अरूपी सत्ता का साक्षात्कार किया, वह बुद्धि के परे का ज्ञान था।

यह शरीर हमारी इन्द्रियों का विषय है, बुद्धि का विषय है। हम इसे इन्द्रियों द्वारा देख सकते हैं और बुद्धि के द्वारा इसकी व्याख्या कर सकते हैं। प्राचीन-काल में भी शरीर की व्याख्या बहुत की गई और आज के शरीरशास्त्रियों ने भी इसका बहुत विश्लेषण किया है। शरीर के एक-एक अवयव की सूक्ष्मतम व्याख्या आज प्राप्त है। शरीर का छोटा या बड़ा—ऐसा कोई भी अवयव नहीं, जिसका सूक्ष्मतम विश्लेषण आज उपलब्ध न हो। प्राचीन काल में जो विश्लेषण किया गया वह देखने के आधार पर या अनुमान के आधार पर किया गया था। आज का विश्लेषण वैज्ञानिक परीक्षणों और प्रयोगों के आधार पर हुआ है। शरीर अचेतन है, रूपीसत्ता है। वह दीखता है, इन्द्रिय-गम्य है, इसलिए उसकी इतनी व्याख्याएं संभव हैं। आज एक-एक कोशिका की संरचना भी अज्ञात

है और प्राकृतिक जगत् में विविधता बनाए रखती है। किन्तु आज भी यह समस्या सुलझ नहीं पाई है। यह एक बिन्दु है। इस पर खड़े होकर यदि हम आगे की ओर देखते हैं तो पता चलता है कि हमारे पास इस गुत्थी को सुलझाने का एक साधन है। वह है—कर्मशरीर। वह सूक्ष्मतम है। सारी व्यवस्था इसीसे आ रही है। यह व्यवस्था स्वतः चालित है। अनन्त-अनन्त परमाणु हैं। सबका संचालन स्वतः होता है।

कर्म पुद्गलों का स्कंध अनन्तप्रदेशी होता है। वैसा स्कंध ही कर्म योग्य होता है। कर्म के अनन्त प्रदेशी स्कन्ध आत्मा के प्रदेशों से चिपके हुए हैं। इतना सूक्ष्म जगत्! इतना विशाल जगत्! एक वर्ग इंच में ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएं होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म शरीर—कर्मशरीर—की कोशिकाओं का लेखा-जोखा किया जाए तो एक वर्ग इंच में अरबों-खरबों कोशिकाओं का अस्तित्व ज्ञात होगा।

स्थूल या सूक्ष्म—सारे नियमन सूक्ष्म शरीर से होते हैं। वह नियंता है, नियमन करने वाला है। उसके आठ विभाग हैं। नियमन के आठ विभाग हैं। सब अपना-अपना काम संभाले हुए हैं।

एक विभाग है—ज्ञान के नियमन का। वह जीव के ज्ञान का नियमन करता है। वह इसका नियमन करता है कि इतना ज्ञान बाहर प्रकट होना चाहिए, इतना नहीं।

हमारे शरीर में भी एक व्यवस्था है। व्यक्ति को जब ज्यादा कष्ट होता है तब उसे मूर्च्छा आ जाती है। जब व्यक्ति पूरे कष्ट को सहन नहीं कर पाता तब वह मूर्च्छित हो जाता है। यह प्रकृतिगत व्यवस्था है। जब तक व्यक्ति कष्टों को सहन करने की सीमा में रहता है तब तक उसे कोई मूर्च्छा नहीं आती। जब कष्ट सीमा को पार कर जाता है, तब प्रकृति उसे मूर्च्छित कर देती है, जिससे कि उसे कष्टानुभूति न हो।

वैसे ही ज्ञान की व्यवस्था भी स्वतः चालित है। किस व्यक्ति को कितना ज्ञान मिलना चाहिए, कौन व्यक्ति कितने ज्ञान को वहन कर सकता है—यह सब सूक्ष्म शरीर—कर्म शरीर की व्यवस्था है। यदि इस व्यवस्था का अतिक्रमण होता है तो व्यक्ति पागल बन जाता है, मूर्च्छित हो जाता है। उस व्यक्ति में ज्ञान की क्षमता इतनी जागृत है तो उसे उतना ही ज्ञान प्राप्त होगा, कम या अधिक नहीं। अधिक को झेलने की क्षमता नहीं है तो अधिक टिक नहीं पाएगा।

हम पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति को जातिस्मृतिज्ञान (पूर्वजन्मज्ञान) हुआ। उसे पूर्वजन्मों की स्मृति हुई। अब उसका जीना दूभर हो गया। क्योंकि वह प्रत्यक्ष देखता है कि उसने यह किया, वह किया। उससे लड़ा, इससे लड़ा। उसे मारा, इसे मारा। वह घबरा जाता है। वह पागल हो जाता है। ऐसा इसीलिए

और गोत्र का विभाग—अपना-अपना काम संभाले हुए हैं। सूक्ष्म शरीर की संरचना में इन चारों का बहुत बड़ा योग है। चारों विभागों के कार्य स्वतः संचालित हो रहे हैं या ये चारों इन कामों को करते हैं। आप किसी भी भाषा में कहें, कोई अन्तर नहीं आता। सूक्ष्म शरीर के चार विभाग और हैं—नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय। इन सबमें सबसे बड़ा विभाग है—नाम का। हमारा स्थूल शरीर नामकर्म के कारण बनता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को बनाए बिना नहीं रहता, क्योंकि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कुछ न कुछ चाहिए। सारी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर के माध्यम से होती है। इसलिए स्थूल शरीर का निर्माण होता है। नामकर्म के उपविभागों की संख्या भी सबसे अधिक है। किसी कर्म के विभाग हैं आठ, किसी के पांच, किसी के दो या किसी के अठाइस। नामकर्म के विभाग सौ से अधिक हैं। उनमें एक विभाग है—निर्माण नामकर्म। यही शरीर का निर्माता है। यह एक शिल्पी है। कोशिकाओं का निर्माता भी यही है। वह पुरानी कोशिकाओं को नष्ट कर रहा है और नई कोशिकाओं का निर्माण कर रहा है। यह जीर्ण-शीर्ण अंगों को नष्ट कर नए अंगों का निर्माण कर रहा है। यह कर्मठ है, जागृत है। निरन्तर काम में लगा रहता है। यह दोनों काम करता है—उत्पन्न भी करता है और व्यवस्था भी करता है। वह नए अवयव को उत्पन्न करता है, उसके प्रमाण का निश्चय करता है कि वह कितने भाग में होगा और उसकी व्यवस्था भी करता है।

आज का शरीरविज्ञान बतलाता है कि कोई व्यक्ति काला है और कोई ...। इसका नियामक सूत्र क्या है? उसका मानना है कि यह सब गुणसूत्र के द्वारा होता है। कर्मशास्त्री कहते हैं कि नामकर्म का एक विभाग है 'वर्ण नामकर्म'। इसी के द्वारा प्राणियों का वर्ण निर्धारित होता है। यही नियामक है।

जीनस् के आविष्कार ने वैज्ञानिक जगत् में हलचल पैदा कर दी है। उसमें हमारे संस्कार सूक्ष्म शरीर से प्रवाहित होकर आते हैं और इस स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं।

आज एक नई खोज और हुई है। एक व्यक्ति कमरे में बैठा है। वह एक घंटा उस कमरे में बैठकर चला गया। बाद में उस कमरे के वायुमंडल के विश्लेषण के आधार पर उस व्यक्ति को पहचान लिया जाता है।

सूंघने के आधार पर अपराधी को पहचानने में कुत्तों का उपयोग हो रहा है। वैज्ञानिकों ने गंध-विश्लेषकों का निर्माण किया है। उसके आधार पर अमुक कमरे के वायुमंडल को सूंघकर यह बता देता है कि अमुक प्रकार का व्यक्ति यहां आया था, बैठा था आदि-आदि। यह शरीर की गंध के आधार पर होता है।

तीर्थंकरों के लिए कहा जाता है कि उनके शरीर से पद्मकमल जैसी गंध निकलती है। यह उनकी विशेषता मानी गयी है। प्रत्येक प्राणी के

सूक्ष्म शरीर का भी अस्तित्व है, जिसके द्वारा सारी व्यवस्थाएं हो रही हैं, जो एक कट्रोल-रूम की तरह है, जो सारे नियंत्रण कर रहा है—यदि यह तथ्य समझ में आ जाए तो बहुत सारी समस्याएं सुलझ सकती हैं।

शरीर नामकर्म अनेक शरीरो का निर्माण करता है। एक है स्थूल शरीर। यह हाड-मांस और रक्तमय शरीर है। एक है तैजस शरीर। यह हमारा विद्युत् शरीर है। सारी व्यवस्था के संचालन मे इसका योग है। इसके आगे है कर्म-शरीर। कर्मशरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है तैजस शरीर।

मैं बोल रहा हूं। मेरे सामने माइक है। मेरे शब्द दूर तक संचरण कर रहे हैं। यह विद्युत् के सहारे हो रहा है। विद्युत् का काम संवहन करना है। तैजस शरीर यही काम करता है। कर्मशरीर के द्वारा जो कुछ स्थूल शरीर मे आ रहा है वह सारा तैजस शरीर के द्वारा आ रहा है। यदि यह सेतु नही होता तो सूक्ष्म शरीर या कर्मशरीर कुछ नही कर पाता। कर्मशरीर कर्मशरी बना रहता। अकेला पड जाता। स्थूल शरीर मे कुछ भी सक्रांत नही होता। वह अकेला पड जाता। दोनों के बीच कोई संबंध-सूत्र नही रहता। तैजस शरीर विद्युत् शरीर है। यही माध्यम बनता है। सूक्ष्म शरीर का बिम्ब स्थूल शरीर मे प्रतिबिम्बित होता है।

हम श्वास लेते हैं। श्वास के साथ प्राण का ग्रहण होता है। यदि तैजस शरीर न हो तो प्राण कर्मशरीर या सूक्ष्म शरीर तक नही पहुच पाता। इसी प्रकार तैजस शरीर के अभाव मे सूक्ष्म शरीर की प्राणशक्ति स्थूल शरीर तक नही पहुच पाएगी। हमारी भाषा की शक्ति, मन की शक्ति और स्थूल शरीर की शक्ति—ये सारी शक्तियां कर्मशरीर से स्थूल शरीर तक तैजस शरीर के माध्यम से पहुचती हैं। एक होती है भाषा और एक होता है—भाषा योग। एक होता है मन और एक होता है—मनयोग। एक होता है शरीर और एक होता है—शरीरयोग। योग तब बनता है जब तैजस शरीर अपने संवाहन का कार्य प्रारंभ कर देता है। तैजस शरीर का योग मिलते ही भाषा वचनयोग बन जाती है। तैजस शरीर का योग मिलते ही मन मनयोग बन जाता है। तैजस शरीर का योग मिलते ही शरीर शरीरयोग बन जाता है। भाषा, मन और शरीर अचेतन हैं। वे जीव की शक्ति के साथ तैजस शरीर के माध्यम से जुडकर चेतन हो जाते हैं।

भाषा अचेतन, भाषायोग चेतन।
मन अचेतन, मनयोग चेतन।
काया अचेतन, काययोग चेतन।

चार

हम श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और कायोत्सर्ग का अभ्यास करते हैं। प्रश्न होता है कि श्वास को देखने का प्रयोजन क्या है? शरीरप्रेक्षा की निष्पत्ति क्या है? कायोत्सर्ग का फलित क्या है?

आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई है—भारानुभूति। इसे हम तनाव कहते हैं। तनाव अर्थात् भारीपन। जब शरीर हल्का होता है तब अनुभूति अच्छी होती है। जब शरीर भारी होता है तब अनुभूति अच्छी नहीं होती। जब दिमाग भारी होता है तब एक प्रकार की अनुभूति होती है और जब दिमाग हल्का होता है तब दूसरे प्रकार की अनुभूति होती है।

हम भारमुक्त रहना चाहते हैं। हम हल्का रहना चाहते हैं। हम लघुता या लाघव का अनुभव करना चाहते हैं।

साधना की प्रारंभिक निष्पत्ति है—लाघव, हल्कापन, भारमुक्त अवस्था, तनावमुक्ति।

आज का आदमी तनाव का शिकार है। उसे शांति का अनुभव नहीं होता। वह निरंतर बेचैन रहता है। जब वह काम करते-करते थक जाता है तब वह विश्राम करता है। थकान के बाद विश्राम, श्रम के बाद विश्राम। एक आदमी कंधे पर भार ढो रहा है। चलते-चलते जब कंधा दर्द करने लगता है तब वह भार को दूसरे कंधे पर रखकर आगे बढ़ जाता है। जो कंधा थक गया था, उसे वह विश्राम देता है। चलते-चलते वह भार को नीचे रखकर पूरा विश्राम करता है। फिर वह भार को उठाकर चलता है और अपने गन्तव्य तक पहुंच जाता है। सारा भार को उतारकर ऐसा महसूस करता है कि मानो वह बिल्कुल भारमुक्त हो गया हो। वह भारमुक्ति का अनुभव करता है, सुख की सांस लेता है।

कोई योजना ही न बनाएं तो कल कौन बाजार जायेगा ? कौन सामान लायेगा और कार्य कैसे संपन्न होगा ? ये प्रश्न उठते हैं। इन्हीं के आधार पर सामान्य व्यक्ति कह देता है कि अध्यात्मवादियों की ये बहकी-बहकी बातें हैं। वे कहते हैं—"स्मृति को छोड़ दो, कल्पना को छोड़ दो।" इनके बिना जीवन चल नहीं सकता। आदमी एक दिन भी नहीं जी सकता।

ऐसा सोचना ठीक है। मन का यह संदेह भी उचित है। किन्तु अध्यात्मवादियों के कथन को हम यथार्थ में समझें।

अध्यात्मवादी यह कभी नहीं कहते कि स्मृति को सर्वथा छोड़ दें, स्मृति-शून्य हो जाएं। वे यह नहीं कहते कि कल्पना को छोड़कर अपने जीवन की गाड़ी रोक दें। उनके कथन को समझें, उनके हार्द को समझें, उनके मर्म को समझें। उनके कथन का तात्पर्य है कि मनुष्य अनावश्यक स्मृतियों और कल्पनाओं के भार से मुक्त हो जाए। वह जितना समय उन स्मृतियों और कल्पनाओं में बिताता है, उसको कम कर दे। आवश्यक स्मृति और कल्पना के लिए जितना समय आवश्यक हो उतना लगाए, किन्तु अनावश्यक समय लगाने की मनोवृत्ति से छुटकारा पा ले।

हमारा पूरा समय स्मृतियों के उधेड़-बुन में और कल्पनाओं को सजोने में बीत जाते हैं। सोते समय भी कल्पनाएं होती हैं और जागते समय भी कल्पनाएं होती हैं। ये स्वप्न क्या हैं ? जागते समय की कल्पना और जागते समय की स्मृतियां सोते समय स्वप्न बन जाते हैं। सोते-जागते स्मृतियों और कल्पनाओं का चक्र चलता रहता है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने का अर्थ ही है कि हम इन स्मृतियों और कल्पनाओं के चक्र को तोड़ दें। जीवन में केवल वही बचे जो अनिवार्य है। आवश्यक स्मृति और कल्पना का अपना उपयोग है। अनावश्यक स्मृति और कल्पना का कोई उपयोग नहीं है। वे केवल तनाव का सृजन करती हैं। मन को भटका देती हैं।

अनावश्यक स्मृतियों के साथ कभी गुस्सा आता है, कभी लोभ जागता है, कभी मान उभरता है। सारे आवेग चक्कर काटने लग जाते हैं। खाना-पीना हराम हो जाता है। यह क्यों होता है ? यह इसीलिए होता है कि मनुष्य वर्तमान में नहीं रहता। उसने वर्तमान में रहना नहीं सीखा। वर्तमान में रहने का मतलब है कि हम जब जो कार्य करते हैं, उसके अतिरिक्त कोई भी स्मृति न सताए। खाने बैठे हैं, तो मन खाने में ही रहे। चलते हैं तो मन चलने में ही रहे। इधर-उधर न भटके। न अतीत में दौड़े और न भविष्य में छलांग भरे। केवल वर्तमान की क्रिया के साथ संलग्न रहे। यह है वर्तमान में जीना। यह है वर्तमान क्षण में रहना।

सामने थाली परोसी हुई है। सारी सामग्री उपलब्ध है। व्यक्ति खा भी रहा है। फिर भी न जाने उसका मन कहां-कहां भटकता रहता है। मन दुनिया-भर

शुद्ध चेतना का क्षण। यह है वर्तमान का क्षण। यहां न प्रियता है और न अप्रियता। न कोई अतीत का अनुभव है और न कोई भविष्य की चिंता। केवल वर्तमान के क्षण का जीवन है।

श्वास को देखने का अर्थ है—समभाव में जीना। श्वास को देखने का अर्थ है—वीतरागता के क्षण में जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है। जो वर्तमान में जीता है, उसका तनाव अपने-आप विसर्जित हो जाता है।

हम शरीर को देखते हैं। शरीर को देखने का यह अर्थ नहीं है कि हम केवल चमड़ी को देखें। अवयवों के आकार-प्रकार को देखें। यह तो हम अनेक बार देख चुके हैं। शरीर-प्रेक्षा में हम ऐसा नहीं करते। हम देखते हैं कि इस क्षण में हमारे शरीर में क्या घटित हो रहा है। सुख का संवेदन हो रहा है या दुःख का संवेदन हो रहा है। प्रियता का संवेदन हो रहा है या अप्रियता का संवेदन हो रहा है। क्या-क्या रासायनिक परिवर्तन हो रहा है। इन सबको हम देखते हैं। हमारे शरीर में वर्तमान क्षण में जो घटित हो रहा है उसे हम देखते हैं, चाहे फिर वह भीतर घटित हो रहा है या बाहर घटित हो रहा है। शरीर में खुजली हो रही है, उसे भी हम देख रहे हैं, क्योंकि वह भी एक घटना है, सचाई है। पसीना आ रहा है, उसे देखते हैं, क्योंकि यह भी सचाई है, घटना है। गर्मी का अनुभव हो रहा है, सर्दी का अनुभव हो रहा है, जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसे हम तटस्थभाव से देख रहे हैं, क्योंकि यह वर्तमान की घटना है, यथार्थ है, सचाई है, कोरी स्मृति या कल्पना नहीं है। घटना को देखना, तटस्थभाव से देखना, समभाव से देखना, राग-द्वेषमुक्त भाव से देखना, वर्तमान में जीना है, वर्तमान का अनुभव करना है, वर्तमान का उपयोग करना है।

शरीरप्रेक्षा से समभाव का विकास होता है। शरीरप्रेक्षा में राग-द्वेषमुक्त क्षण में जीने का अभ्यास बढ़ता है। इस अभ्यास से हम मानसिक तनाव से बच जाते हैं।

तनाव तीन प्रकार के हैं—शारीरिक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव। प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों प्रकार के तनावों से घिरा हुआ है। शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है। दो घंटे तक सोने से जितना आराम नहीं मिलता, मांसपेशियों को विश्राम नहीं मिलता, उतना विश्राम आधे घंटे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है। उससे अधिक विश्राम मिलता है।

आज के वैज्ञानिक विद्युत् के झटके देकर बीमार व्यक्ति को नींद दिलाते हैं। पचीस मिनिट की नींद से व्यक्ति को छह घंटे की नींद जैसा विश्राम महसूस होता है। यदि आधा घंटा कायोत्सर्ग किया जाए, तो वह दो-तीन घंटे नींद की

५. मानसिक संतुलन

- तनाव मुक्ति शक्ति-जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र।
- तनाव आवेग पैदा करते हैं।
  कषाय से तनाव, तनाव से कषाय, उससे असन्तुलन।
- इडा-पिंगला का सन्तुलन : जीवन चलता है।
  सौम्य-तीव्र, शामक-उत्तेजक।
- सन्तुलन से परे की साधना से सन्तुलन की क्षमता।
- नशा क्यों? व्यसन क्यों? शराब-तम्बाकू क्यों?
  मादकता : विस्मृति या मादकता।

□□

कल्पनाओं में बहते रहेंगे, दुःख बढ़ेगा, मिटेगा नही।

यह लोक-प्रवाद है। इसे हम समझते हैं। अब हमें यह समझना है कि अध्यात्म-साधना में हम ऐसा कौन-सा प्रयत्न कर रहे हैं जिससे दुःख-मुक्ति हो? धार्मिक लोग, अध्यात्म की साधना करने वाले साधक यह घोषणा करते हैं—'धर्म करो, सारे दुःख मिट जाएंगे। अध्यात्म-साधना करो, दुःख-मुक्ति प्राप्त कर लोगे।' यह दुःखों को मिटाने की घोषणा है, पर धर्म या अध्यात्म के पास सुख देने के लिए एक इंच जमीन नहीं है, एक गाव पर आधिपत्य नहीं है, कोई पदार्थ नहीं है, फिर वह सुख कैसे देगा? फिर वह दुःख से छुटकारा कैसे करा पाएगा? वह खाली हाथ है। न भूमि है, न पदार्थ है, न सत्ता है और न अधिकार है। फिर भी इतनी बड़ी घोषणा करना 'सव्वदुक्खविमोक्खण—सभी दुःखों से छुटकारा'—क्या यह हास्यास्पद बात नहीं है?

यह प्रश्न वे व्यक्ति उठाते हैं जो यह मानते हैं कि सुख देने वाले हैं पदार्थ। अध्यात्म के लोगों ने एक प्रश्न उठाया कि यह बात समझ से परे है कि पदार्थ सुख देते हैं। यह बात मानी जा सकती है कि पदार्थ बीमारी का इलाज करने वाले हैं, किन्तु सुख देने वाले नहीं। रोटी खाने से सुख कहां मिलता है? पेट में भूख की पीड़ा पैदा होती है और वह रोटी खाने से समाप्त हो जाती है, कुछ समय के लिए शांत हो जाती है। इसे सुख मान लिया गया। समय बीतते ही फिर भूख लगती है और पीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। फिर रोटी खाते हैं और पीड़ा शांत हो जाती है। यह क्रम जीवनपर्यन्त चलता है। पेट की आग जलती है, रोटी का छींटा दिया, वह बुझ जाती है। फिर भभक उठती है। फिर शांत होती है। यह कैसा सुख? बीमारी हुई। उसकी चिकित्सा की। बीमारी दब गयी। यह कैसा सुख?

मन अशांत होता है। आदमी सोचता है—शराब पीने से मन शांत हो जाएगा। शराब पीने वाले इसीलिए शराब पीते हैं कि वे अपने-आपको भूल जाएं, मन की अशांति को भूल जाएं, मादकता आ जाए, मस्ती में झूम उठें, आनन्द में चले जाएं। शराब पीते हैं। मस्ती आती है। परन्तु यह कौन-सा सुख? यह कैसा सुख? शराब पीने से विष शरीर में आता है। स्नायुमंडल प्रभावित होता है। वह सताता रहता है। वह मिटता नहीं, शराब पीने से वह उपशांत होता है। जब तक मादकता रहती है तब तक पीड़ा उपशांत रहती है। ज्यों-ज्यों नशा उतरता है, पीड़ा उभर आती है। इसे हम सुख कैसे मानें?

अध्यात्म के साधकों ने सुख की पहचान की एक कसौटी दी है। सुख वह है जो परिणामभद्र हो—जिसका परिणाम, जिसकी परिणति सुखद हो। परिणाम में जो दुःख पैदा न करे, वही वास्तव में सुख है। वर्तमान में जो सुखद अनुभूति का कारण बनता है किन्तु परिणाम में वह दुःख देता है तो समझ लेना चाहिए कि

वह बेचारा सहता है। दुःख भोगता है। पीड़ा का अनुभव करता है।

बहुत सारी व्याधियां तनाव के कारण उत्पन्न होती है। प्राचीन ग्रंथों में बीमारी के दो प्रकार बतलाए हैं—आगतुक बीमारी और कर्मज बीमारी। बीमारी के तीन कारण हैं—वात, पित्त और कफ। कोई चोट लगी। यह आगतुक बीमारी है, कष्ट है। पूर्व संचित संस्कारों से उत्पन्न होने वाली बीमारी कर्मज है। एक होती है मानसिक बीमारी। बीमारियों के ये अनेक प्रकार है।

आज के शरीरशास्त्रियों ने एक बीमारी का उल्लेख किया है। वह है 'साइकोसोमेटिक'। यह शारीरिक और मानसिक बीमारी का द्योतक शब्द है। प्राचीन ग्रंथों में मानसिक बीमारी को 'आधि' और शारीरिक बीमारी को 'व्याधि' कहा गया है। आज की भाषा में इन दोनों का संयुक्त नाम है—'साइको-सोमेटिक' अर्थात् 'मनोदैहिक' बीमारी, शरीर की बीमारी और मन की बीमारी।

मन तनाव से भरा है, भारी है, अशान्त है तो अनेक बीमारियां उत्पन्न होगी। इन बीमारियों का मूल कारण बनता है मन, और आदमी दोष मढ़ता है शरीर पर कि शरीर कमजोर है, शरीर के परमाणु रोगग्रस्त हैं, शरीर के तंतु क्षीण है। बीमारी मन पैदा कर रहा है और दोषी बन रहा है शरीर। यह कैसा न्याय !

मनोदैहिक बीमारियां बहुत ही जटिल होती है। आज का मानव इनसे ग्रस्त है और उसके कष्ट बढ़ते ही चले जा रहे हैं।

योगसारकार ने एक महत्त्व की सूचना दी है। उन्होंने लिखा है—"व्याधि और आधि—ये दोनों प्रकार के रोग मनुष्य की मूर्खता के कारण उत्पन्न होते है।" यह बहुत बड़ा सत्य है कि मनुष्य के अज्ञान के कारण शारीरिक रोग—व्याधियां होती हैं और मानसिक रोग—आधियां होती है। अपने ही अज्ञान के कारण हम इन रोगों को उत्पन्न कर रहे हैं।

हमें दुःख से मुक्ति पाना है तो इस सूत्र को बार-बार दोहराना होगा—अप्पणा सच्च मेसेज्जा—आत्मा से सत्य की खोज करो। स्वयं सत्य को खोजो। सत्य को खोजे बिना दुःख से मुक्ति नहीं हो सकती। अज्ञान को मिटाना आवश्यक है।

रोगों का एक निमित्त कारण भोजन भी है। भोजन के विषय में भी हमारा अज्ञान है। अज्ञान मिटता है तो बहुत सारे रोग उत्पन्न ही नहीं होते और जो उत्पन्न हो चुके है वे भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते है। रोग का मूल टूट जाता है।

जब हम जान लेते हैं कि मन कैसा हो, चिन्तन कैसा होना चाहिए, मन को कहां-कैसे नियोजित करना चाहिए तो बहुत बीमारियां मिट जाती है।

इसलिए शरीर, मन और भोजन के विषय में हमें बहुत कुछ जानना

की उद्घोषणा करता है कि पदार्थों से छुटकारा पाए बिना दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। एक ओर कांचन-मुक्ति का स्वर है तो दूसरी ओर कांचनमुक्ति का स्वर है। एक ओर पदार्थ के संग्रह की घोषणा है तो दूसरी ओर पदार्थ-मुक्ति की घोषणा है। ये दोनों बातें चल रही हैं। जब तक मनुष्य स्नायविक तनाव का शिकार बना रहता है तब तक वह इस सचाई को समझ नहीं सकता। किन्तु जैसे ही वह ध्यान का अभ्यास करता है, स्नायविक तनाव धीरे-धीरे कम होने लगता है, ग्रन्थियों का स्राव संतुलित होता है, मस्तिष्क संतुलित होता है तब उसे आनन्द का अनुभव होता है। उसकी भ्रान्ति टूटने लगती है। पदार्थ-मुक्ति का घेरा टूटता है और पदार्थमुक्ति की भावना का उदय होता है।

बात यह है कि सुख का झरना हमारे भीतर बह रहा है और हम उसकी खोज बाहर में कर रहे हैं।

एक बुढ़िया सड़क पर सूई खोज रही थी। कुछ बच्चे आए, पूछा—"दादी! क्या खोज रही हो?" बुढ़िया ने कहा—"सूई।" बच्चों ने पूछा—"दादी! सूई सड़क पर गुम हुई थी?" बुढ़िया ने कहा—"नहीं, वह कमरे में गुम हुई थी।" बच्चे बोले—"दादी! यह क्या? सूई कमरे में गिरी और उसे तुम खोज रही हो सड़क पर। वह कैसे मिलेगी?" बुढ़िया बोली—"बेटा! ठीक कहते हो, पर करूं क्या? कमरे में अंधेरा है। प्रकाश केवल सड़क पर ही है। प्रकाश में ही तो ढूंढ रही हूं?"

आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए एक कथा कही। एक आंख का रोगी वैद्य के पास गया। वैद्य ने आंख में आंजने के लिए दवा दी। वह घर पर आया और दवा पीठ पर मलने लगा। संयोगवश वैद्य वहां आ पहुंचा। उसने देखा, दवा पीठ पर लगाई जा रही है। वैद्य ने कहा—"यह क्या, आंख की दवा पीठ पर लगा रहे हो?" रोगी ने कहा—"वैद्य जी! और क्या करूं। दवा को आंख में लगाते ही आंख जलने लगती है। इतनी जलन कि मैं उसे सहन ही नहीं कर सकता। पीठ पर कोई जलन नहीं होती।"

दो पशु पास-पास खड़े थे। एक था ऊंट और एक था बैल। ऊंट बीमार था—उसे दागना था। दागने वाला आया और उसने ऊंट के बदले बैल को दाग दिया। पूछने पर बोला—"ऊंट तक हाथ नहीं पहुंच रहा था, इसलिए बैल को ही दाग दिया।" बीमार था ऊंट और दागा गया बैल। परिणाम क्या हो सकता है?

हमारे जीवन में ऐसे विरोधाभास कितने चलते हैं, कोई लेखा-जोखा नहीं है। हम दूसरों के विरोधाभासों पर हंसते हैं, उनकी मूर्खता का उपहास करते हैं, किन्तु हम स्वयं अपने जीवन में न जाने कितने विरोधाभासों को पालते चले जा रहे हैं। सुख-शान्ति जीवन के भीतर है और खोज रहे हैं बाहर में। क्या यह विरोधाभास नहीं है? क्या हमारी यह स्थिति बुढ़िया जैसी नहीं है?

सम्पद-सागर मात्र नहीं मानता। वह उसे सार्थक मानता है, आवश्यक मानता है। साधना से स्फूर्ति बढ़ती है, दृष्टि साफ होती है और मानदण्ड के आयाम बदल जाते हैं।

साधक कर्मक्षेत्र में रहता है। वह कर्म करता है, आजीविका के साधन जुटाता है किन्तु कर्म से जो दुःख उत्पन्न होता था उस दुःख की भावना से बच जाता है। कर्म के साथ जो दोष आते थे, वह उनसे बच जाता है। क्रिया से जो प्रतिक्रिया होती थी, वह उनसे बच जाता है। उसकी यह भ्रान्ति टूट जाती है कि पदार्थ से सुख होता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। दुःख का मार्ग भिन्न है और सुख का मार्ग भिन्न है—यह स्पष्ट बोध हो जाता है। सुख का मार्ग भिन्न है और आवश्यकता-पूर्ति का मार्ग भिन्न है—यह समझ में आ जाता है। इस बोध से सन्तुलन स्थापित होता है। मानसिक सन्तुलन प्राप्त होता है। आज के युग की बहुत बड़ी समस्या है मानसिक असन्तुलन। मन ऊबड़-खाबड़ बन जाता है। कभी वह प्रियता से लबालब भर जाता है तो कभी अप्रियता से भर जाता है। कभी वह विश्वास से पूर्ण होता है तो कभी अविश्वास की सीमा लांघ जाता है। यह सारा असन्तुलन है।

अध्यात्म-साधना के द्वारा हम मानसिक सन्तुलन को प्राप्त कर सकते हैं। मानसिक सन्तुलन का अर्थ है—न राग और न द्वेष। केवल समभाव।

प्रेक्षा-ध्यान समभाव की वृद्धि का प्रतीक है। हम शरीर की प्रेक्षा करते हैं। प्रिय संवेदनों को देखते हैं और अप्रिय संवेदनों को भी देखते हैं। प्रिय संवेदनों के प्रति राग न हो और अप्रिय संवेदनों के प्रति द्वेष न हो। दोनों के प्रति समता, समभाव बना रहे। हम केवल द्रष्टा बने रहें, देखने वाले बने रहें।

सुख की खोज का प्रयोग इतना लाभदायी है कि वह हमारे दैनिक जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। वह आवश्यकता-पूर्ति के साथ आने वाले विष को धो डालता है और व्यक्ति के जीवन को पवित्र बनाता है। जिस व्यक्ति में प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास पक चुका है वह कभी किसी को धोखा नहीं दे सकता। वह किसी के साथ शत्रुता नहीं रख सकता। क्योंकि उसने इन तथ्यों का साक्षात् अनुभव किया है, केवल जाना ही नहीं है। केवल जानना अधूरी बात होती है। साक्षात् अनुभव की बात ही प्रधान होती है। वही रूपान्तरण में सहायक होती है।

छह

हमने अध्यात्म की यात्रा शुरू की है। यह हमारे जीवन की नई यात्रा है, अपरिचित यात्रा है। इसके पथ से हम परिचित नहीं हैं। यह नया मार्ग है, जिससे परिचित होना है, हो रहे हैं। यह पथ लंबा है, यात्रा लंबी है। हमें लम्बे मार्ग को तय करना है।

अध्यात्म की यात्रा भीतर की यात्रा है। अध्यात्म में दो शब्द हैं—अधि + आत्मा। 'अधि' का अर्थ है—भीतर। अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर। आत्मा के बाहर-बाहर हम यात्रा कर रहे हैं, अतीत से करते रहे हैं। बाहर ही बाहर, बाहर ही बाहर। कभी भीतर जाने का अवकाश ही नहीं मिला। हमें सब कुछ वही अच्छा लगता है जो बाहर है। हम मानते हैं कि दुनिया में जो कुछ सार है वह बाहर ही है, भीतर कुछ भी नहीं। बाहर सारा है और भीतर वह है जो सार को भोगता है। सार को करने वाला, लेने वाला, ग्रहण करने वाला भीतर है, परन्तु भीतर में कोई सार नहीं है। यदि भीतर में सार होता तो बाहर से सार लेने की क्या आवश्यकता होती? भीतर में सार नहीं है, असार है, इसीलिए हम बाहर से सार लेकर भीतर भेजते हैं। यही हमारा अनुभव है। और इसी अनुभव के कारण हम भीतर में असार मानते हैं और बाहर में सार मानते हैं। हमने खोज शुरू की कि सार साक्षात् हो सके। बाहर के कण-कण में सार को खोजा, खोजते रहे हैं। आज भी खोजते हैं। विटामिन्स में सार है, प्रोटीन्स में सार है, सिनेमाघर और दुकान में सार है। खोज का निष्कर्ष निकाला कि सारा बाहर है, भीतर नहीं।

हमने जब से भीतर की यात्रा शुरू की, अध्यात्म की यात्रा शुरू की, अपने भीतर चलना प्रारंभ किया, भीतर देखना शुरू किया तो सारी मान्यता बदल

गाढ़ हो जाती है, इतनी तीव्र हो जाती है कि हमारी आत्मा 'बहिरात्मा' बन जाती है, अन्तरात्मा नहीं रहती। भीतर से हटकर केवल बाह्य बन जाती है। बाहर का आकार ले लेती है। फिर सारी प्रवृत्ति बाह्य को देखती है। सब कुछ बाहर ही बाहर, भीतर कुछ भी नहीं। बहिरात्मा का परिणमन होता है। हमारी आत्मा बहिरात्मा बन जाती है।

जब किसी निमित्त से भीतर की यात्रा प्रारम्भ होती है और इस सचाई का एक क्षण, एक लव अनुभूति में आ जाता है कि सार सारा भीतर है, सुख भीतर है, आनन्द भीतर है, आनन्द का सागर भीतर लहराता है, चैतन्य का विशाल समुद्र भीतर उछल रहा है, शक्ति का अजस्र स्रोत भी भीतर है, अपार आनन्द, अपार शक्ति, अपार सुख—यह सब भीतर है, तब आत्मा अन्तर् आत्मा बन जाती है, बाह्य आत्मा का वलय टूट जाता है। बाह्य अनुभूति के स्तर पर आत्मा बहिरात्मा बनती है तो आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर आत्मा अन्तरात्मा बनती है। अध्यात्म की यात्रा के स्तर पर आत्मा अन्तर् आत्मा बन जाती है। तब हमारी परिणति आन्तरिक बन जाती है। अन्तर् आत्मा का उन्मेष जाग जाता है।

जब साधक इससे आगे बढ़ता है तब अनुभूति का स्तर बदल जाता है। श्रेय के साथ हमारा संबंध जुड़ जाता है, शुद्ध चेतना के साथ हम मिल जाते हैं। जिसके साथ संबंध कटा-कटा-सा था, उस विशुद्ध चेतना के साथ पुन: संबंध स्थापित हो जाता है। एक छोटा स्रोत अपने मूल स्रोत से मिल जाता है। यह परम आत्मा की स्थिति है। इस स्तर पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।

अनुभूतियों के स्तरों के आधार पर आत्मा के तीन रूप बन जाते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

हम इसकी तुलना आज के मनोविज्ञान की भाषा से कर सकते हैं। उसके अनुसार मन के तीन प्रकार हैं—कोन्शियस माइंड, सबकोन्शियस माइंड और अनकोन्शियस माइंड—चेतन मन, अर्द्धचेतन मन और अवचेतन मन।

चेतन मन अर्थात् जागृत मन। यह स्थूल मन है। यह बाहर ही बाहर घूमता है, बाहर को ही देखता है, यह केवल बाहर का बन जाता है। इसे हम बहिरात्मा कह सकते हैं। यह बहिरात्मा की स्थिति का अनुभव है।

अर्द्धचेतन मन भीतर है, बाहर नहीं है। यह भीतर ही काम करता है। यहां अन्तरात्मा की स्थिति का अनुभव होने लगता है।

जब हम अवचेतन मन में चले जाते हैं, वहां आत्मा की मूल स्थिति का अनुभव होने लगता है, मूल स्थिति का दर्शन होता है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें'—अर्थात् उस परम आत्मा की अनुभूति करें जो उपलब्ध नहीं है। उस स्थिति को उपलब्ध करना और जो वर्तमान की स्थिति

मूल प्रश्न है—जीवन कैसे बदले ? इसके समाधान में कहा गया कि अध्यात्म की यात्रा पर चलने से जीवन बदल जाता है। बदलने का सबसे बड़ा उपाय है—आत्मा को आत्मा के द्वारा देखना। जब तक भीतर में नहीं देखा जाता तब तक बदलाव नहीं होता, रूपान्तरण नहीं होता।

इस प्रसंग में मैं शरीरशास्त्रीय चर्चा करना चाहता हूं। डा० कॉप (KAPP) ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है - 'स्ट्रेस् दि इन्विजिबल सारजियन'। यह पुस्तक लिखने वाला अध्यात्म-गुरु नहीं है। वह एक शरीरशास्त्री है। वह लिखता है—"हमारे भीतर जो ग्रन्थियां हैं वे क्रोध, कलह, ईर्ष्या, भय, द्वेष आदि के कारण विकृत बनती हैं। जब ये अनिष्ट भावनाएं जागती हैं तब एड्रीनल ग्लाण्ड को अतिरिक्त काम करना पड़ता है। वह थक जाती है, और-और ग्रन्थियां भी अतिश्रम से थककर क्षय हो जाती हैं। अतिरिक्त भार थकान पैदा करता है। बैलगाड़ी पर ज्यादा भार लादोगे तो बैल थक जाएंगे। मोटर पर अधिक भार लादेंगे तो इंजन टूट जाएगा, काम नहीं करेगा। यंत्र हो या प्राणी—वह अतिरिक्त भार से थक जाता है।

जब-जब हमारे आवेग और संस्कार जागते हैं तब-तब उन ग्रन्थियों पर अतिरिक्त भार पड़ता है। वे अस्वाभाविक रूप से काम करने लगती हैं। स्राव अधिक होता है। यह अतिरिक्त स्राव अनेक विकृतियां पैदा करता है। ग्रन्थियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामस्वरूप शरीर का सारा संतुलन बिगड़ जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन आवेगों को रोकें, इन भावनाओं को रोकें, इन पर नियंत्रण करें। आवेगों का समझदारी से समेटें और ग्रन्थियों पर अधिक भार न आने दें। इसका भी उपाय है। वह उपाय है—धर्म।

आज ऐसा धर्म चाहिए जिसके साथ भय जुड़ा हुआ न हो। भगवान महावीर का वाक्य है—न भेतव्वं—डरो मत। उन्होंने अपने धर्म का प्रारंभ यहीं से किया। वह धर्म चाहे अहिंसा है, सत्य है, अपरिग्रह है, सबके आगे जो प्रहरी बैठा है वह है—डरो मत, अभय रहो। उन्होंने कहा—किसी से मत डरो—बुढ़ापे से मत डरो, बीमारी से मत डरो, मौत से मत डरो, शत्रु से मत डरो। किसीसे मत डरो।

भय अनेक विकृतियां पैदा करता है। भय से सबसे ज्यादा प्रभावित होती है—एड्रीनल ग्रन्थि।

सब धर्मों का मूल है—अभय। भगवान् महावीर ने कहा—जो अभय नहीं होता, वह अहिंसक नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह सत्यवादी नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह ब्रह्मचारी या अपरिग्रही नहीं होता। आदमी भय के कारण हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह का संचय करता है।

शस्त्रों का विकास भय के कारण ही हुआ है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से

फिर प्रश्न उठता है कि अर्द्धचेतन मन को हम कैसे जागृत करें? वह क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसका कार्य क्या है?

हमारे शरीर में जितनी भी ग्रन्थियां हैं — ग्लैण्ड्स् हैं वे सब अर्द्धचेतन मन हैं, सब-कॉन्शियस माइंड हैं। सारा ग्रन्थितंत्र अर्द्धचेतन मन है। यह मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है। यह ग्रन्थितंत्र मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान् है। इसे हमें जागृत करना है। यदि इसे सही साधनों के द्वारा जागृत करते हैं तो भय से मुक्ति मिलती है। भय से मुक्त होने का अर्थ है सारी बाधाओं से मुक्त होना। शरीर-शास्त्र अभी यह बताने में समर्थ नहीं है कि ग्रन्थियों की जागृति के सही साधन क्या हैं। अध्यात्म के पास इसका उत्तर है और वह उत्तर प्रयोगात्मक है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, आत्म-प्रेक्षा, लेश्याओं का ध्यान — ये सब ग्रन्थियों को सक्रिय करने के साधन हैं। हम चैतन्य केन्द्रों (ग्रन्थियों) पर ध्यान करें, वे सक्रिय होंगे। ज्यों-ज्यों हम उन पर अधिक केन्द्रित होंगे, वे और अधिक सक्रिय होते जाएंगे। उनकी सक्रियता से भय समाप्त होगा, आवेग समाप्त होंगे, सब कुछ समाप्त हो जाएगा। एक नया आयाम खुलेगा। नया आनन्द, नई स्फूर्ति, नया उल्लास प्राप्त होगा।

अभी-अभी एक साधक ने कहा — 'मुझे आज ध्यानकाल में ऐसा अनुभव हुआ कि पहले कभी नहीं हुआ था। ग्रन्थि-विमोचन का वह अनुभव अपूर्व था।' मैंने कहा—"सच है। इसे 'अपूर्वकरण' कहते हैं। साधना करते-करते दो बार अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। एक बार जब सम्यग् दृष्टि का पूरा जागरण होता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है और दूसरी बार जब साधक 'क्षपक श्रेणी' का आरोहण करता है, एक विशिष्ट पथ पर चलना प्रारंभ करता है, ध्यान की विशिष्ट श्रेणी में चढ़ता है, शुक्लध्यान में आरोहण करता है तब 'अपूर्वकरण' का अनुभव होता है। 'अपूर्वकरण' का अर्थ है—वह करण जो पहले कभी नहीं हुआ था। अपूर्व वही होता है जो पहले कभी नहीं हुआ हो। पहले हो जाए वह अपूर्व नहीं हो सकता। 'करण' का अर्थ है मनोभाव। ऐसे मनोभाव का जागरण होना है जो पहले कभी नहीं हुआ था।

चैतन्य-केन्द्रों को देखने का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अध्यात्म-विकास का एकमात्र साधन है। शरीर-प्रेक्षा को आप छोटा न मानें। यह न समझें कि शरीर के भीतर क्या देखें? भीतर रक्त है, मांस है, हड्डियां हैं, ग्रन्थियां हैं और स्नायु-मंडल है। इन्हें क्या देखें? क्यों देखें? यदि साधक यही देखेगा तो वह शरीर-प्रेक्षा करता हुआ भी बहिरात्मा ही रह जाएगा। ये शरीर की चीजें हैं। साधक को और गहरे में जाना होगा। उसे इस शरीर के भीतर सूक्ष्म सत्ता का जो प्रकाश है, अपनी सत्ता का जो आलोक है, चैतन्य की जो जगमगाहट है, उसका अनुभ करना होगा, साक्षात् करना होगा। वह प्रकाश बाहर प्रस्फुटित होने को तैयार

करता ही है। उसे अनुभव होता ही है। जिन्होंने इन शिविरों में साधना की है, उनमें अध्यात्म की भूख जागी है, प्रकाश के स्फुलिंग उछले हैं और वे प्रकाश से भरे हैं। उनमें यह भावना पनपी है कि साधना चलनी चाहिए। यह अच्छा सूचक है।

अध्यात्म-पथ पर यात्रा करना निरर्थक नहीं है, यह जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है, उपलब्धि है।

श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सारी प्रक्रियाएं हैं रूपान्तरण की। फिर उपदेश देने की जरूरत नहीं होगी कि ऐसा बनो, वैसा बनो, धार्मिक बनो, स्वार्थ को छोड़ो, भय और ईर्ष्या को छोड़ो। यह केवल उपदेश है। उपदेश कारगर नहीं होता। जो उपाय निर्दिष्ट किए गए हैं, उनको काम में लो। स्वयं एक दिन यह स्पष्ट अनुभव होने लगेगा कि रूपान्तरण घटित हो रहा है। धार्मिक वृत्ति का जागरण हो रहा है, क्रोध और मान छूट रहे हैं माया और लोभ टूट रहे हैं। उन दोषों से छुटकारा पाने के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। वे स्वयं मिटते जाएंगे। इन दोषों को मूलतः नष्ट करने का यही उपाय है।

दस दिन का शिविर सपन्न हुआ। एक साधक ने बताया—आज सारा का सारा अटपटा-सा लग रहा है। साधना-काल मस्ती का काल था। जो अनुभव हुआ, उसका धागा अभी नहीं टूटा है। उसका प्रसाद अभी भी मन को आह्लादित कर रहा है। वह प्रसाद-वर्षा अभी बन्द नहीं हुई है। क्या ही अच्छा हो यदि यह बनी रहे।

ऐसा होता है। यह कोई अनहोनी बात नहीं है।

आप केवल उपदेश की भाषा में विश्वास न करें। इससे मैं उपदेश की व्यर्थता नहीं बता रहा हूं। वह भी अपने क्षेत्र में सार्थक है। क्योंकि सबसे पहले उपदेश ही काम देता है। आदमी सोता है। उसे जगाने के लिए तब संबोधन काम देता है। किन्तु जब वह जाग गया, जाग उठा तो फिर क्या सारे दिन संबोधन ही काम करता रहेगा? घंटी बजती ही रहेगी? ऐसा नहीं होता। सारे दिन संबोधन चले या घंटी बजती रहे तो आदमी बोर हो जाता है।

छोटा बच्चा मां की अंगुली पकड़कर चलता है। यह बात समझ में आ सकती है। किन्तु यदि पचास वर्ष का आदमी भी दूसरे की अंगुली पकड़कर चले, यह बात समझ में नहीं आ सकती।

बच्चा प्रारंभ में मां की अंगुली पकड़ सकता है, जागने के लिए संबोधन को भी सुन सकता है, घंटी भी सुन सकता है, किन्तु इसकी भी एक सीमा है। सीमा समाप्त होते ही यह सब समाप्त हो जाता है।

उपदेश की भी एक सीमा है। जब तक व्यक्ति उस तत्त्व को नहीं समझता

७. सत्य को स्वयं खोजें

- सुखी जीवन का आधार—सब के साथ मैत्री।
- प्रतिपक्ष—इड़ा, पिंगला, स्निग्ध, रूक्ष।
- मन—अमन।
- प्रवृत्ति से शक्तिक्षीण। निवृत्ति से शक्ति संरक्षित।
- विचार-संवेदन नियन्त्रण।
- सेरेब्रल कार्टेक्स के दो गोलार्द्ध—दायां गोलार्द्ध बाएं के लिए। और बायां गोलार्द्ध दाएं के लिए।
- बायां गोलार्द्ध महत्त्वपूर्ण—भाषा की क्षमता, गणित, तर्क, चिन्तन, विश्लेषण योजनाबद्धकार्य, कालक्रम आदि।

□□

है जिसके विचार हमारे विचारों से नहीं मिलते। हम उसको शत्रु मानते है जो
हमारे से भिन्न विचारधारा का साथी है। हम उसको शत्रु मानते हैं जिसका
कार्य-कलाप हमारे कार्य-कलाप से भिन्न है। हम उसको शत्रु मानते हैं जो
हमारी सभ्यता और संस्कृति से भिन्न सभ्यता और संस्कृति का उपासक है।
हम उसको शत्रु मानते हैं जो हमारी बात ठुकरा देता है स्वीकार नहीं करता।

किन्तु हम अध्यात्म जगत् की इस सचाई पर ध्यान दें कि इस दुनिया में
ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका प्रतिपक्षी न हो। पक्ष का अस्तित्व प्रतिपक्ष पर
टिका हुआ है। प्रतिपक्ष के अभाव में पक्ष जैसा कुछ होता ही नहीं। भगवान्
महावीर ने जिस महान् सत्य की घोषणा की थी वह उसी साधना के आधार
पर, अध्यात्म के आधार पर की थी। वह सत्य है—अनेकान्त। यह प्रतिपक्ष के
स्वीकार का महान् सिद्धान्त है। यह पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों को समानरूप से
स्वीकार करता है। एक को नकारने का अर्थ है—दूसरे को नकारना और एक
को स्वीकारने का अर्थ है—दूसरे का स्वीकारना।

पक्ष एक सचाई है। प्रतिपक्ष भी एक सचाई है। हम समवृत्ति श्वास का
प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में श्वास की अनुलोम और विलोम गति होती
है। हम एक नथुने से श्वास लेते हैं और दूसरे से उसे छोड़ते है। यह अनुलोम-
विलोम प्रक्रिया है। एक है पक्ष और दूसरा है प्रतिपक्ष। हठयोग की भाषा में
एक है इडा और एक है पिंगला। प्राण के तीन प्रवाह है—इडा पिंगला और
सुषुम्णा। जो बाएं नथुने से प्राण का प्रवाह आता है वह है इडा, जो दाएं नथुने
से प्राण का प्रवाह आता है वह पिंगला। जो प्राण का प्रवाह रीढ़ के मध्य से
प्रवाहित होता है, सुषुम्णा से प्रवाहित होता है वह है 'सुषुम्णा'। इडा चन्द्रस्वर
है, समस्वर है, ठंडा है। पिंगला सूर्य स्वर है गरम है। सुषुम्णा मध्यस्वर है।

इडा और पिंगला—दोनों विरोधी है। एक ठंडा है और दूसरा गरम। क्या
दोनों प्रतिपक्ष नहीं हैं? प्रतिपक्ष हैं किन्तु दोनों में कोई शत्रुता नहीं है। यदि
दोनों में शत्रुता आ जाए तो जीवन चल नहीं सकता। प्रतिपक्ष होना, विरोधी
होना, दो दिशाओं में रहना, भिन्नता रखना—यह शत्रुता का आधार नहीं है।

पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनों एक-दूसरे के आधार पर टिके हुए हैं। एक का
अस्तित्व दूसरे के आधार पर है। हमने अपनी भ्रान्ति के कारण, झूठी मान्यताओं
और धारणाओं के कारण, भिन्नता रखने वाले को शत्रु मान लिया और समानता
रखने वाले को मित्र मान लिया।

हम समवृत्ति-श्वास का प्रयोग कर रहे हैं। यह जाने-अनजाने मैत्री का
प्रयोग है। हम मैत्री का प्रयोग कर रहे हैं। हम इस बात का प्रयोग कर रहे हैं
कि जो ठंडा है वह भी आवश्यक है और जो गरम है वह भी आवश्यक है। दोनों
आवश्यक हैं। दोनों में कोई शत्रुता नहीं है। दोनों भिन्न हैं, पर परस्पर शत्रु

उधर से इधर आ रहा है। और कुछ नहीं है। यह अमन की स्थिति है। जब अमन की स्थिति आती है, मन से अतीत की भूमिका आती है, मन उत्पन्न नहीं होता है तब शरीर भी खो जाता है, वाणी भी खो जाती है और मन भी खो जाता है।

हम अमन की भूमिका और समन की भूमिका को साथ-साथ समझें। जब तक मन की भूमिका है तब तक इस बात को न सोचें कि मन को मिटा दें। किन्तु इस बात को सोचें कि मन को कोई अच्छा आलंबन मिले। मन को शुद्ध या पवित्र आलंबन मिले और मन जो नाना प्रकार के आलंबनों में भटकता है उस भटकाव को भुला दें और एक ही आलंबन में लंबे समय तक रह सके—ऐसा प्रयत्न करें। हमारे दो ही प्रयत्न हों—मन की भूमिका में पवित्र आलंबन और एक दिशागामिता, एक दिशागामी प्रवाह। मन की धारा एक दिशा में बहे। विभिन्न दिशाओं में बहने वाली मन की यह धारा समाप्त हो जाए और एक विशाल धारा के रूप में वह प्रवाहित हो और सबको अपने-आपमें समेट ले।

मन को आलंबन देना है और उस धारा को एक ही दिशा में बहाना है—ये दो काम हैं मन की भूमिका में। हम श्वास का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि मन केवल श्वास को देखता रहे। मन और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें। दोनों सहयात्री बनें। हम इस आलंबन को न छोड़ें। इस डोरी को न छोड़ें। इस डोरी से पकड़े रहें। सहयात्रा बहुत बड़ा आलंबन है। श्वास के प्रति हमारा कोई राग न हो, कोई द्वेष न हो। श्वास इतना सीधा-सादा है कि इसके प्रति राग-द्वेष हो ही क्या सकता है?

एक श्वास ही ऐसा है जो जाने-अनजाने हमको सम्भालता है। हमारे जीवन का सबसे मूल्यवान् तत्त्व है श्वास। किन्तु हमने उसकी बहुत उपेक्षा की है। हम सही श्वास लेना ही नहीं जानते। हमने जीवन-भर उसकी उपेक्षा की और अब पहले ही दिन हम यह आशा करें कि पूरा श्वास [illegible] यह [illegible] होगा। हमने इतनी बड़ी उपेक्षा की है तो फिर यह एक समय [illegible] हो नहीं सकता। श्वास बहुत बड़ा आलंबन है। यह सहज आलंबन है। इस कारण से [illegible] नहीं पड़ता। जब चाहें तब इसको आलंबन बना सकते हैं।

जितना समय मिले हम श्वासप्रेक्षा करें। साथ ही [illegible] का समय [illegible] तब भी श्वास-प्रेक्षा कर लें, शरीर प्रेक्षा कर लें [illegible] श्वास प्रेक्षा कर लें। करना क्या है? मन को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर ले जाएं। [illegible] अवयव को देखें। इसके लिए किसी खास [illegible] की जरूरत नहीं होती। [illegible] समय-विशेष या स्थान-विशेष की आवश्यकता ही रहती है। [illegible] [illegible] [illegible] यदि हमारा यह क्रम बन जाता है तो मन की भूमिका [illegible]

अच्छी कैसे होगी ? हमें प्रतीक्षा करनी होगी कि फल पक जाए। वह कच्चा न रहे। पकने के लिए प्रतीक्षा करनी होती है। वह एक ही क्षण में घटित नहीं होती।

साधना के मार्ग में जल्दबाजी खतरनाक होती है। धीमे-धीमे अभ्यास को बढ़ाना चाहिए, अन्यथा शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है। उसे संभाल पाना कठिन हो जाता है। धैर्य के साथ चलें। अधैर्य की स्थिति उत्पन्न न होने दें। अमन की भूमिका प्राप्त करने के लिए उतावले न हों। मन की भूमिका जब समुचित ढंग से चलती रहेगी, आलंबन शुद्ध और मन की एक दिशागामिता बनी रहेगी तो एक दिन वह समुद्र में पहुंच जाएगा अमन हो जाएगा। हम सत्य की खोज के लिए निकल पड़े हैं, हमें सत्य को खोजने जाना है। बहुत सारे सत्यों को खोजना है।

सत्य के खोज की कुछेक दिशाएं मैंने स्पष्ट की हैं। साधक अपने अनुभव और प्रयोगों के आधार पर सत्य की खोज करे और इस सचाई को सदा सामने रखे—अप्पणा सच्च मेसेज्जा, अप्पणा सच्च मेसेज्जा—स्वयं सत्य को खोजो, स्वयं सत्य को खोजो।

आठ

आज हमने एक युद्ध शुरू किया है। प्रातःकाल में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया। यह एक युद्ध है। सबसे पहले, जहां हम बैठे है, उस हॉल से लड़े। फिर अपने आसन से, कपड़ों से, फिर शरीर से और अन्त में कर्मशरीर से लड़े। क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि आवेगों से लड़े। भयंकर युद्ध छिड़ गया। हम मोर्चे पर डटे रहे। अच्छा हुआ, इतने दिन बाहर ही बाहर लड़ते रहे। आज लड़ने की दिशा बदल गयी। बाहर की लड़ाई बंद हो गयी। भीतर की लड़ाई प्रारंभ हो गयी। भीतर की लड़ाई प्रारंभ होते ही मैत्री की भावना घटित होने लगती है। अब बाहर के साथ मैत्री करनी होगी या वह स्वतः सध जाएगी। मैत्री-संधि करनी पड़ेगी। अब दोहरी लड़ाई हम नहीं लड़ सकते। बाहर की लड़ाई भी लड़ें और भीतर की लड़ाई भी लड़ें, यह नहीं हो सकता। एक ही लड़ाई संभव है। या तो भीतर की लड़ाई चलेगी या बाहर की लड़ाई चलेगी। दोनों साथ-साथ नहीं चल सकती। दोनों ओर लड़ेंगे तो हम पराजित हो जाएंगे। विजय प्राप्त करने के लिए एक ही लड़ाई लड़नी होगी।

हमने भीतर का युद्ध प्रारंभ कर दिया है। अब हम किसी के साथ शत्रुता नहीं रख सकते। सबके साथ मैत्री-संधि करनी होगी। यह करने पर ही हम भीतर की लड़ाई में सफल हो सकेंगे। अन्यथा हम पराजित हो जाएंगे।

यह वैसी ही लड़ाई है जैसी चक्रवर्ती भरत और बाहुबलि के बीच हुई थी। भरत की विशाल सेना ने बाहुबलि पर आक्रमण कर दिया। भरत चक्रवर्ती था। विशाल प्रदेश का स्वामी, विशाल सेना का अधिनायक। बाहुबलि छोटे प्रदेश का स्वामी, छोटी सेना का मालिक। चक्रवर्ती की विशाल सेना के आक्रमण को हम मोह और मूर्च्छा का आक्रमण मानें तो बाहुबलि की छोटी सेना का प्रतिरोध

जो भी साधक अपने निश्चय पर अडिग रहता है, अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखने में प्रयत्नशील रहता है, जो सदा जागृत और अप्रमत्त रहता है वह मोह की सत्ता के सामने नहीं झुक सकता। एक दिन ऐसा आएगा, जिस दिन मोह की विशाल सेना परास्त होकर भाग जाएगी, नष्ट हो जाएगी।

भरत चक्रवर्ती के पास एक चक्र था। वह देवताओं द्वारा उपासित और सेवित था। महान् पराक्रमी था वह चक्र। आपके पास भी एक चक्र है, शक्तिशाली चक्र है। वह है—प्रेक्षा। देखना, देखना और देखना। कुछ भी नहीं करना, केवल देखना है।

जब भरत और बाहुबलि के युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकला तब यह प्रस्ताव आया कि सेनाओं में होने वाले युद्ध को बंद कर दिया जाए। केवल भरत और बाहुबलि लड़ें। दो की लड़ाई हो। जो जीतेगा, वह विजयी होगा। उस व्यक्ति-युद्ध में एक था दृष्टियुद्ध। दोनों आमने-सामने खड़े हो जाएं। आंखों से एक-दूसरे को देखें। जो अपनी पलकें पहले झपकाएगा वह पराजित घोषित होगा। दोनों आमने-सामने आ खड़े हुए।

हम भी उसी प्रकार के युद्ध में प्रवेश कर रहे हैं। प्रेक्षा का अर्थ है—दृष्टियुद्ध। भीतर में देखना, अप्रमत्तभाव से देखते जाना। प्रेक्षा दृष्टियुद्ध है। हम प्रेक्षा करें, भीतर की गहराइयों में उतरें। वहां क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष, उन्माद, वासना और विकार के स्फुलिंग उछलते नजर आएंगे। हम उनको अपलकदृष्टि से देखें, केवल देखें, देखते रहें। वे स्वयं भाग जाएंगे। आपको हाथापाई नहीं करनी पड़ेगी। वे स्वयं भाग जाएंगे। दृष्टि का अस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है। प्रेक्षा एक शक्तिशाली अस्त्र है। जो साधक दृष्टियुद्ध में पारगत हो जाता है, जो देखना जान जाता है, समझ जाता है वह कभी परास्त नहीं हो सकता। जो भी सामने आएगा, वह परास्त हो जाएगा। प्रेक्षा का अस्त्र बहुत तीक्ष्ण और मर्मवेधी होता है। वह सामने वाले को समूल नष्ट कर देता है।

हम प्रेक्षा करते हैं। हम संकल्प और भावना का प्रयोग करते हैं। हम सूक्ष्म तरंगों का प्रयोग करते हैं। लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं। ये सब एक प्रकार के युद्ध ही हैं। इनमें साधक सभी दोषों पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह सब आक्रमणों को विफल कर सकता है।

आज विज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रयोग चल रहे हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि आने वाले युद्ध मानसिक स्तर पर लड़े जाएंगे। उनमें सेना की आवश्यकता नहीं रहेगी। मन को इतना शक्तिशाली बनाया जाएगा कि वह हजारों मील दूर रह रहे शत्रु को परास्त कर सके, उसे क्लीव बना सके, उसे शक्तिहीन बना सके।

मानसिक विकास के लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं। यदि वे इस दिशा में सफल हो जाएंगे तो भी हानि है और नहीं होंगे तो भी हानि है।

अन्धकार रहेगा। आवश्यकता है चलने की सतत गतिशील रहने की।

विधि को समझें और चलें। विधि को समझना ही पर्याप्त नहीं है चलना भी पड़ेगा। आगे से आगे बढ़ना होगा। यदि नहीं चले, रुके रह गए तो प्रकाश जहां पड़ता है वहीं पड़ेगा, वह आगे नहीं बढ़ेगा। वह तभी बढ़ेगा जब हम बढ़ेंगे। वह हमारे रुकने के साथ रुकेगा और बढ़ने के साथ बढ़ेगा। अभ्यास करते जाएं। अभ्यास करते जाएं। आप अपनी मंजिल तक पहुंच जाएंगे।

किन्तु एक बाधा और आ जाती है। चलने-चलते एक संदेह और उभर आता है कि श्वास को देखने से क्या होगा? शरीर को देखने से क्या होगा? मन में अश्रद्धा आ जाती है। आकर्षण समाप्त हो जाता है। श्वास निरंतर चल रहा है। उसे क्या देखना? संसार में जो नया है, उसे देखना चाहिए। संसार मोहक है। कहीं पचास मंजिल के मकान हैं और कहीं कांच की सड़कें हैं। उन्हें देखो। देखते जाओ। श्वास को क्या देखना? यह विचार आते ही आकर्षण की धारा मुड़ जाती है। वह मोह के साम्राज्य में चली जाती है। लड़ाई का मोर्चा ठंडा पड़ जाता है। ध्यान भी चले और बाहरी आकर्षण भी बना रहे—दोनों बातें साथ नहीं चल सकतीं। बाहरी आकर्षण को तोड़ना होगा। खान-पान, रहन-सहन बदलना होगा। आकर्षण की धारा को मोड़ना होगा। मैं यह नहीं कहना चाहता कि पहले ही दिन सब कुछ बदल जाएगा। दो-चार दिनों में बदल जाएगा। अभ्यास यदि लंबा चलेगा तो धीरे-धीरे सब कुछ बदल जाएगा। रूपान्तरण होने लगेगा। वर्षों तक अभ्यास करना होगा। जीवनपर्यन्त अभ्यास करना होगा। किसी-किसी साधक को अनेक जन्मों में साधना करते-करते ही मंजिल प्राप्त हो सकती है। एक-दो जन्मों में नहीं।

हमें अपनी श्रद्धा को बदलना होगा। श्रद्धा का अर्थ है—आकर्षण, इच्छा। आकर्षण की धारा को मोड़ना होगा। आकर्षण की जो धारा एक दिशा में बह रही थी, उसे मोड़कर विपरीत दिशा में प्रवाहित करना होगा।

सफलता में समर्पण का भी महत्त्वपूर्ण योग है। जो समर्पित नहीं होता, वह सफल नहीं होता। लक्ष्य के प्रति जो डेडिकेट नहीं होता, वह कभी सफल नहीं होता। पूर्ण समर्पण। न तर्क, न वितर्क, केवल समर्पण। समर्पित भाव से एक छोटा व्यक्ति भी बहुत बड़ा काम कर सकता है। जिसमें समर्पण भाव नहीं है वह शक्तिशाली होने पर भी छोटा काम नहीं कर पाता। असफल रहता है। हार जाता है।

हम अभ्यास के प्रारंभ में अर्हं-अर्हं की ध्वनि करते हैं। अर्हं के प्रति संपूर्ण भाव से समर्पित होते हैं। हम अपने समस्त आकर्षण को अर्हं के प्रति प्रवाहित करते हैं। हम सर्वात्मना 'अर्हं' के प्रति समर्पित हो जाते हैं और अपनी सारी श्रद्धा उसमें अन्तर्निहित कर देते हैं। अर्हं की ध्वनि गूंजती है। सारा वातावरण

साधना के क्षेत्र में प्रमाद भीतर आता है। जब प्रमाद आता है तब लगता है कि सब कुछ कर लिया। कुछ भी करने को नहीं है, कुछ भी करना शेष नहीं है। जब आदमी प्रमाद में चला जाता है तब वह जिसकी बात को भूल जाता है, लक्ष्य को भूल जाता है, उद्देश्य को भूल जाता है। आज तक दुनिया में ऐसा व्यक्ति कौन हुआ है जो प्रमत्त रहा हो और अपने आपको न भुला दिया हो। भगवान् महावीर ने कहा— 'सव्वओ पमत्तस्स भयं।' प्रमाद भय उत्पन्न करता है। जो प्रमत्त होता है, चारों ओर से भय उसे घेर लेता है। भय सताने लगता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता कि प्रमत्त हो और डरा न हो। वह निश्चित ही डरेगा।

प्रमाद आता है, आलस्य आता है, अकर्मण्यता आती है। सामने जीतने की स्थिति होती है, पर वे उसे जीत नहीं पाते। वह सोचता है— क्या करना है? अभी बैठे हैं। कैसे पार पहुंचना? कैसे होगा?

एक कहानी है। एक राजा था। उसे मंत्री की नियुक्ति करनी थी। वह नियुक्ति से पूर्व परीक्षा करना चाहता था। पांच सौ व्यक्ति आए। उसने सबको एक कमरे में बिठाकर कहा— "आप सब यहां बैठें। मैं कमरे के बाहर ताला लगा देता हूं। जो भी ताले को खोलकर बाहर निकल आएगा उसे मंत्री बनाऊंगा।" सबने सुना। सोचा— कितनी विचित्र परीक्षा। दरवाजा बंद। बाहर से ताला बंद और भीतर वालों से कहे कि बाहर आओ। यह असम्भव है। कुछ व्यक्तियों ने सोचा— राजा पागल हो गया लगता है। यह भी कोई परीक्षा होती है! दूसरे प्रकार से भी परीक्षा ली जा सकती थी। बाहर आना कैसे सम्भव हो सकता है? वे हाथ पर हाथ दिए बैठे रहे। कुछ पराक्रम नहीं किया। सातवां व्यक्ति अकर्मण्य नहीं था, पुरुषार्थी था। उसने सोचा—जरूर इस शर्त में कोई रहस्य है। राजा ऐसी शर्त क्यों रखता? मुझे अपना पुरुषार्थ करना है। वह उठा। दरवाजे के पास गया। उसे जोर से धकेला, वह खुल गया। उसने बाहर आकर राजा का अभिवादन किया। दरवाजे पर कोई ताला लगाया ही नहीं था, केवल सबको भुलावे में रखा था। राजा जानना चाहता था कि कौन कर्मण्य है और कौन अकर्मण्य। सबका कर्तव्य था कि वे पुरुषार्थ करते। ताला खुले या नहीं, यह अलग प्रश्न था। उन्होंने सोचा—जब बाहर ताला है तब दरवाजा कैसे खुलेगा। इसी भ्रम ने उन्हें अकर्मण्य बना डाला। वे बाजी हार गए। जिसने पुरुषार्थ किया, कर्मण्यता का परिचय दिया, वह जीत गया। वह मंत्री बन गया।

साधना का क्षेत्र निर्विघ्न नहीं है। उसमें अनेक भुलावे हैं। उन भुलावों में साधक यदि अकर्मण्य बन साधना को भुला देता है तो साधना से भटक जाता है।

९. साधना की निष्पत्ति

- तनाव-मुक्ति : उपाय—कायोत्सर्ग।
- जागरूकता : उपाय—श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा।
- अन्तःकरण का परिवर्तन : उपाय—चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा।
- अपने-आपमें समाधान खोजने की प्रवृत्ति : उपाय—भीतर देखने, अपने-आपको देखने का अभ्यास।
- उलझे हुए प्रश्न का समाधान : उपाय—दस मिनट आनन्द-केन्द्र में पीले रंग का ध्यान।
- मानसिक उत्तेजना : उपाय—दस मिनिट ज्ञान-केन्द्र में श्वेत रंग का ध्यान।
- मन की अशान्ति : उपाय—सुषुम्णा में मन की यात्रा।
- अकर्मण्यता, आलस्य, निष्क्रियता : उपाय—दस मिनट तक दर्शन-केन्द्र में लाल रंग का ध्यान।

□□

छूट जाएगा। श्वास का काम है निरंतर चलना। मन का काम यह नहीं है कि वह इसी सीमा में चले, श्वास के साथ ही रहे। श्वास का क्षेत्र सीमित है। मन का क्षेत्र असीम है। श्वास की यात्रा छोटी है। उसका यात्रा-पथ बहुत संकीर्ण है और छोटा है। नथुने से फेफड़े तक ही उसकी यात्रा होती है। वहां पहुंचकर वह वापस लौट आता है। बहुत ही छोटी यात्रा, बहुत ही छोटा मार्ग। किन्तु मन का मार्ग बहुत लंबा-चौड़ा है, बहुत दीर्घ है। वह एक क्षण में सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है। इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले मन को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोड़े रखना बहुत ही कठिन काम है। मन को श्वास का साथी बनाना बहुत कठोर कर्म है, बहुत बड़ी बात है। मन को छोटी-सी यात्रा और संकीर्ण यात्रा-पथ में बांध लेना, वास्तव में ही बड़ी बात है। किन्तु यह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही मन जागरूक होता है। फिर वह कभी नहीं सोता। उसकी जागृति बनी रहती है। वह श्वास का साथी बन जाता है। जब कभी मन को थोड़ी-सी झपकी आ जाती है, श्वास का साथ छूट जाता है।

हमें मन को पूर्ण जागरूक रखना है। श्वास-प्रेक्षा इसका सबल साधन है। मन को साधने के बाद उसका भटकाव मिट जाता है, प्रमाद मिट जाता है, सोने की आदत मिट जाती है। फिर वह पूर्ण अनुशासित हो जाता है, नियंत्रित हो जाता है।

जागरूकता साधना की दूसरी निष्पत्ति है।

साधना की तीसरी निष्पत्ति है—अन्तःकरण का रूपान्तरण। रूपान्तरण की बहुत बड़ी समस्या है। व्यक्ति में बदलने के लिए हजारों प्रयत्न किए हैं। वह कितना साहित्य पढ़ता है, प्रवचन सुनता है, आदर्श पुरुषों की जीवन-गाथा सुनता है, जिनमें प्रलोभन और भय से वह गुजरता है, फिर भी वह नहीं बदलता और यदि कुछ थोड़ा-सा रूपान्तरण होता है तो वह स्वल्प-सा होता है। [illegible] क्योंकि दूसरे को भला बनाने की बात निरंतर सालती है, चाहे फिर वह स्वयं भला हो या न हो। कवि कविताएं बनाता है और यही चाहता है कि उसी कविताओं से सारा रूपान्तरण घटित हो जाए, सारे [illegible] व्यक्ति को [illegible] बदल जाए। किन्तु वह स्वयं वैसा ही रह जाता है।

एक कवि ने अपनी पत्नी से कहा—"आज ऐसी कविता लिखूंगा कि सारी दुनिया में आग लग जाएगी।" पत्नी ने कहा—"क्यों शेखी बघारते हो! अपने [illegible] की बात छोड़ो। आज घर में ईंधन नहीं है, लकड़ी नहीं है। अपने कविता-[illegible] से चूल्हे को जला दो तो जानूं।"

दुनिया में आग लगाने वाला कवि अपने घर के चूल्हे में आग नहीं लगा सका। दुनिया को बदलने का प्रयत्न करने वाला स्वयं [illegible]

अपने को देखो। राजनेता सारा दोष दूसरों पर मढ़ता है। वही सफल राजनेता होता है जो दूसरों को अधिक से अधिक दोषी ठहराए और स्वयं दोषों से बच निकले। अध्यात्म इससे विपरीत है। सफल आध्यात्मिक वह होगा जो अपने दोषों को पहले देखेगा। दूसरों के दोषों की ओर अंगुली नहीं करेगा। उसका सूत्र ही है—स्वयं को देखो। जब हम स्व-प्रेक्षा करने लग जाते हैं तब पर-प्रेक्षा का धागा टूट जाता है और इसके साथ-साथ दूसरों से समाधान पाने की बात भी छूट जाती है। साधक अपने में ही सारे समाधान ढूंढने लगता है और समाधान के सारे सूत्र उसे वहां उपलब्ध हो जाते हैं।

हम नहीं जानते कि हमारे भीतर सारे समाधान हैं, इसीलिए हम समाधानों की खोज बाहर में करते हैं। यदि यथार्थ में यह बात ज्ञात हो जाए तो हमारा भटकाव मिट सकता है।

एक-दो प्रयोगों की चर्चा प्रस्तुत करता हूं। जब कभी अकर्मण्यता, आलस्य या प्रमाद छा जाए तब हम दर्शन-केन्द्र की प्रेक्षा करें। कुछ ही समय में आपमें ताजगी का संचार होगा। अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमाद मिट जाएंगे। इन दोषों को मिटाने का उपाय आप स्वयं में है, फिर बाहरी उपाय क्यों ढूंढे जाएं ? आप आसन लगाकर बैठें। दस मिनट तक बालसूर्य जैसे चमकते लाल रंग का अपने दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करें। दस मिनट के बीतते-बीतते आपको स्फूर्ति का अनुभव होने लगेगा। मन कर्मण्यता और उत्साह से भर जाएगा।

कोई व्यक्ति मानसिक उत्तेजना से ग्रस्त है। वह यदि दस मिनिट तक ज्ञान-केन्द्र पर नारंगी रंग का ध्यान करता है तो उत्तेजना शांत हो जाती है।

कोई व्यक्ति वासनाओं के उभार से पीड़ित है। वह यदि दस मिनट तक ज्योति-केन्द्र, ललाट के मध्य में ध्यान करे और आन्तरिक श्वास गले को छूते हुए ले तो वासनाएं शांत हो जाती हैं।

ये चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करने के कुछेक फलित हैं। उनमें और और समाधान भी हैं। प्रयत्न करने पर वे सारे खोजे जा सकते हैं। समस्या भी बाहर से आती हैं, समस्या का भार बाहर से ढोते हैं और समाधान भी बाहर में खोजते हैं। भीतर कोई समस्या नहीं है, यह सच है। समस्या बाहर से ही आती है। परन्तु उसका समाधान हम बाहर से ही क्यों लाएं ? भीतर उसका समाधान है। यह अनुभूति तब होती है जब हम चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा करते हैं। हमारे भीतर समाधान बहुत हैं। सारे हमने खोज लिए, यह मैं नहीं कहता। जितने खोजे गए हैं, उनका हम उपयोग करें।

साधना की चौथी निष्पत्ति है—अपनी समस्याओं का समाधान अपने-आप में ढूंढना।

उपसंपदा

हम एक विशिष्ट अनुष्ठान के लिए उपक्रम कर रहे हैं। यह अनुष्ठान एक आन्तरिक प्रयत्न है। कोई भी मनुष्य प्रयत्न के बिना रह नहीं सकता, किन्तु प्रयत्न की दो दिशाएं होती हैं—एक बाहरी दिशा में प्रयत्न होता है और एक आन्तरिक प्रयत्न होता है। बाह्य प्रयत्न अपने परिणाम लाते हैं और आन्तरिक प्रयत्न अपने परिणाम लाते हैं। बाह्य प्रयत्न के परिणामों के दर्शन के पश्चात् अनुभव होता है कि पूरा नहीं हुआ, कुछ शेष है, बाकी है। यह अनुभूति ही इस अन्तर् प्रयत्न की प्रेरणा देती है। यदि यह न हो, रिक्तता न हो, बाह्य प्रयत्न में पूर्णता हो जाए तो फिर मनुष्य को इस अन्तःप्रयत्न को गति देने की कोई आशा नहीं रहती। किन्तु हम देखते हैं कि तीव्रतम बाह्य प्रयत्न या बाह्य प्रयत्न के शिखर पर पहुंचकर भी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि अभी जीवन की तलहटी में ही हैं। वह शिखर का अनुभव नहीं कराता। तब सोचना पड़ता है कि इतना ऊंचा पहुंचने पर, शिखर पर पहुंचने पर भी वही मानसिक व्यथाएं, वही कष्ट, वही चिन्ताएं-दुश्चिन्ताएं सारी की सारी हैं और बढ़ती चली आ रही हैं तो जरूर यह शिखर, जो चुना है, कोई सही रास्ता नहीं हो सकता। भूल से इस शिखर पर आए या भ्रम हो गया कि जो शिखर नहीं था उसे शिखर मान लिया गया। इसीलिए नई दिशा खोजने की बात चलती है। हम एक अनुष्ठान कर रहे हैं, यह वास्तव में सत्य की खोज का अनुष्ठान है। एक ऐसा आरोहण है कि जो एवरेस्ट की चोटी से भी बहुत ऊंची चोटियों पर पहुंचने का अभियान है। इस अभियान में काफी शक्ति चाहिए। शरीर-बल भी चाहिए, मनोबल भी चाहिए और तपस्या का बल भी चाहिए, गुरु का बल भी चाहिए। आचार्यश्री उपस्थित हैं, इस अनुष्ठान के आदि क्षणों में। और आप सोचते हैं कि जब आचार्यवर

क्रिया होगी। शरीर और मन का योग न होना द्रव्य-क्रिया है। शरीर और मन का योग होना, दोनों का एक साथ रहना, एक साथ चलना, साथ-साथ कदम बढ़ाना भाव-क्रिया है। हम इस बात की ओर कभी ध्यान ही नहीं देते कि शरीर और मन को साथ-साथ चलाना चाहिए। हमने मान लिया कि जब शरीर चलता है तो मन कहीं भी चले हमारा क्या लिया? इस बात की परवाह नहीं करते और फिर ऐसी आदत बन जाती है कि हर काम में मन के व्यवधान और हस्तक्षेप आते रहते हैं। इन हस्तक्षेपों को मिटाना इस साधना का मुख्य उद्देश्य है। उसके लिए भाव-क्रिया करें यानी शरीर और मन को साथ-साथ चलाएं। भाव-क्रिया के विभिन्न अर्थों को ठीक से समझ लें। पहला अर्थ है—वर्तमान में जीना। हमारे सामने तीन बातें हैं—अतीत, भविष्य और बीच में है वर्तमान। हम जब-जब स्मृतियों में उतरते हैं अतीत की यात्रा शुरू हो जाती है। या जब अतीत की यात्रा शुरू होती है तब स्मृतियों में उतर जाते हैं। जब भविष्य की यात्रा शुरू करते हैं तब कल्पनाओं का ताना-बाना बुनने लग जाते हैं। भाव-क्रिया के लिए जरूरी है कि न स्मृति, न अतीत की यात्रा। न कल्पना, न भविष्य की यात्रा। केवल वर्तमान में जीने का अभ्यास करें, वर्तमान में रहें और वर्तमान के क्षण को गहराई से देखें। वर्तमान के क्षण को देखने का मौका ही नहीं मिलता जब हम अतीत और भविष्य में बस जाते हैं। वर्तमान में जीए, वर्तमान को देखें। यह है—भाव-क्रिया। दूसरी बात—जो भी करें, जानते हुए करें। अच्छा करे या बुरा भी कोई करें तो जानते हुए करें। बेहोशी में न करें, प्रमाद में न करें। जानते हुए करें। वह भाव-क्रिया हो जाती है। तीसरी बात—ध्येय के प्रति सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास करें। हमने जो ध्येय बनाया उसके प्रति निरन्तर जागरूक रहने का अभ्यास करें। वह भाव-क्रिया होगी। हमारी जागरूकता बढ़ेगी। हमारे इस अनुष्ठान का ध्येय है मन को निर्मल बनाना, यानी सत्य को उपलब्ध करना। सत्य तब उपलब्ध हो सकता है जब मन निर्मल हो। स्वच्छ दर्पण में तो ठीक प्रतिबिम्ब पड़ सकता है किन्तु दर्पण यदि धुंधला हो तो उसमें कैसे प्रतिबिम्बित होगी कोई वस्तु? इसलिए मन को निर्मल बनाना जरूरी है और जो मन निर्मल होगा वह निश्चित ही शक्तिशाली होगा। मलिन मन कभी शक्तिशाली नहीं बन सकता। हमारा ध्येय है—मन को निर्मल बनाना। इस ध्येय के प्रति निरन्तर जागरूक रहें। जागरूक रहने का पहला सूत्र है भाव-क्रिया। और दूसरा सूत्र है—प्रतिक्रियामुक्त-क्रिया। हम विविध काम करते हैं। विविध लोगों के बीच रहते हैं, प्रतिक्रिया के लिए भी बहुत अवसर हो सकते हैं। अकेला आदमी हो तो भी कहीं-कहीं प्रतिक्रिया जुटा लेता है तो जहां पचास आदमी साथ रहते हों, वहां प्रतिक्रिया के लिए अवसर होते हैं। एक अभ्यास करें, क्रिया—करें, प्रतिक्रिया से यथा-सम्भव मुक्त रहने का प्रयत्न करें।

यह बाहर के जीवन और भीतर के जीवन का सेतु है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर को जोड़ने वाला है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो प्राण की शक्ति उपलब्ध होती है, वह प्राण श्वास के सहारे चलता है। श्वास और प्राण भिन्न-भिन्न हैं। प्राणशक्ति के लिए श्वास इतना जरूरी है कि यदि श्वास का अनुदान न मिले तो प्राण कुछ नहीं कर पाता। इस ईंधन के बल पर ही वह अपना काम चलाता है। श्वास बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है। जो श्वास का ठीक अभ्यास नहीं करता वह न मन को वश में कर सकता है और न विकल्पों और विचारों को ही नियंत्रित रख सकता है। श्वास पर नियंत्रण किए बिना चित्त की चंचलता भी नहीं मिट सकती। इसलिए हमें श्वास का ठीक अभ्यास करना चाहिए। श्वास को गहराई से पकड़ना सीखें और मन को इसके साथ इस प्रकार जोड़ दें कि वह बिना जोड़े भी जुड़ा रहे। श्वास को समझ लेने पर यात्रा सुगम हो जाती है।

दूसरी बात है—शरीर-प्रेक्षा। इसका अर्थ है—भीतर में देखना। जब हम भीतर देखेंगे तब पहले श्वास दीखेगा और फिर शरीर। शरीर के स्थूल अवयवों को पार कर और आगे भीतर में देखेंगे तब जो देखना है वह दीखेगा। हमारे शरीर में कुछेक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। ऐसे तो हाथ, पैर, आंख, कान आदि सभी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बिना काम नहीं चल सकता। किन्तु इन सब अवयवों को और इन्द्रियों को जो महत्त्वपूर्ण बनाते हैं हम उन्हें नहीं जानते। वे हैं—चैतन्य-केन्द्र। चैतन्य-केन्द्र सब अवयवों में सक्रियता पैदा करने वाले हैं। ये इन्द्रियों को भी संचालित करते हैं और मन को भी संचालित करते हैं। ये चैतन्य-केन्द्र अनेक हैं। सात भी हैं और सात सौ भी हैं। और भी अधिक हो सकते हैं। उनको संतुलित करना, उनकी क्रियाओं को संचालित करना, साधना का मुख्य अंग है। यह कार्य चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा द्वारा किया जा सकता है। प्रेक्षा दर्शन का नया आयाम होगा। हम दर्शन के सैद्धान्तिक रूप को हजारों वर्षों से मानते आ रहे हैं। किन्तु दर्शन को जीवन में जीना, यह है दर्शन का नया आयाम। इसके द्वारा अनेक नई दृष्टियां उपलब्ध हो सकती हैं।

हमें अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास कर मोह के वलय को तोड़ना है।

हमें लेश्या-ध्यान का अभ्यास कर परिणाम-धारा को शुद्ध करना है।

अब हम अपने अनुष्ठान के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर जुट जाएं।

एक

हम मनुष्य हैं। मनुष्य हैं, इसलिए सौभाग्यशाली हैं। हमारे सौभाग्य का मूल आधार है—हमारी शक्तियों के विकास करने की क्षमता। इन्द्रिय चेतना, मानसिक चेतना और मनातीत चेतना को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर है। इन्द्रिय चेतना प्राणी मात्र में होती है। अत्यन्त अविकसित प्राणियों—स्थावर प्राणियों में भी वह होती है। दो तीन और चार इन्द्रिय वाले प्राणियों में वह चेतना उपलब्ध है किन्तु मनुष्य में इस चेतना को विकसित करने की अपूर्व क्षमता और सभावनाए हैं। ऐसी सभावना दूसरे प्राणियों को उपलब्ध नहीं है। मानसिक चेतना की भी यही स्थिति है। मन दूसरे प्राणियों में भी होता है, पशुओं में भी मन होता है, किन्तु मन के विकास की जो सभावनाए मनुष्य को उपलब्ध हैं, वे पशुओं को उपलब्ध नहीं हैं। मनुष्य मन का बहुत विकास कर सकता है, मन को शक्ति के शिखर तक ले जा सकता है।

मनुष्य की इन्द्रिय चेतना भी बहुत क्षमताशील है और मानसिक चेतना भी अद्भुत सभावनाओं से भरी पड़ी है। हम इन्द्रिय-चेतना के विकास की सभावनाओं से परिचित हों तथा मानसिक चेतना के विकास की सभावनाओं से परिचित हों।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसमें अनन्त शक्तियां हैं। मन के द्वारा स्मृति होती है, कल्पना और चिन्तन होता है। हम स्मृति करते हैं, इसलिए मन की क्षमता को जानते हैं। हम कल्पना करते हैं, इसलिए मन की क्षमता से परिचित हैं। हम चिन्तन करते हैं, इसलिए मन की क्षमता से परिचित हैं। किन्तु मन की क्षमताएं इतनी ही नहीं हैं, और भी व्यापक हैं। किन्तु वे व्यापक क्षमताएं तब जानी जा सकती हैं और तब उनका विकास किया जा सकता है जब सबसे पहले

दो

हम अध्यात्म की साधना के लिए उपस्थित हैं। अध्यात्म की साधना आत्मा की साधना है। हमें आत्मा को जानना है, देखना है, अनुभव करना है। आत्मा को देखने के लिए शक्तिशाली अस्त्र चाहिए, विस्फोटक शक्ति चाहिए, जिससे कि हम आत्म-साक्षात्कार के बीच में आने वाली रुकावटों, अवरोधों तथा बाधाओं को पारकर वहां तक पहुंच सकें।

आत्मा को देखने के दो शक्तिशाली अस्त्र हैं—मानसिक शक्ति और प्राण शक्ति। एक अस्त्र है मन का और दूसरा है प्राण का। मानसिक शक्ति का जागरण और प्राण का संचय—ये दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं। जब मानसिक योग और प्राणिक योग सधता है तब आध्यात्मिक शक्ति की बात सहज सध जाती है। मन को शक्तिशाली बनाए बिना, प्राण की शक्ति को विकसित किए बिना यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करना चाहे, आत्मा को देखना-जानना चाहे तो यह चाह मात्र हो सकती है, उसे सफलता कभी नहीं मिल सकती।

मन बहुत शक्तिशाली है। उसकी अनगिन शक्तियां हैं। वे प्रशिक्षण के द्वारा जागृत होती हैं। मन की दो स्थितियां हैं—प्रशिक्षित और अशिक्षित। अशिक्षित मन अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकता। शक्तियां शक्तिमात्र रह जाती हैं। आदमी सोया का सोया रह जाता है। वह कभी जागता ही नहीं। जागरण के बिना शक्ति का उपयोग ही नहीं हो सकता। जब मन एक निश्चित पद्धति में प्रशिक्षित हो जाता है तब आश्चर्यकारी घटनाओं को घटित करने में वह सक्षम हो जाता है। मन के प्रशिक्षण की एक पद्धति है। यह कोई आध्यात्मिक बात नहीं है। मन की शक्ति को जगाना कोई आध्यात्मिक घटना नहीं है, आध्यात्मिक जागरण नहीं है। जो लोग ज्ञान, दर्शन और चरित्र ~ —

उनका ध्येय सिमटकर इतना-सा रह गया कि वे अनुग्रह और निग्रह की शक्ति को प्राप्त कर सकें। वरदान और शाप की शक्ति को प्राप्त करने में ही उन्होंने अपनी साधना नियोजित की। किसी का भला कर देना और किसी का बुरा कर देना—यही सफलता का मानदण्ड बन गया। ऐसे लोग सामान्य जनता में आतंक उत्पन्न कर देते हैं। भय से प्रताड़ित लोग ऐसे व्यक्तियों के भक्त बन जाते हैं। किन्तु यह सच है कि जिन्होंने चमत्कारों में पड़कर, प्रदर्शन को ही सब कुछ मान लिया, उन लोगों को दु:ख का जीवन जीना होता है। वे व्यक्तिगत जीवन में बहुत दु:खी होते हैं। ऐसे लोग अन्त समय में ऐसे कहते हुए सुने गए हैं—'कोई भी इस मार्ग को न अपनाए। यह निकृष्ट मार्ग है।'

हम सटोरियों को बहुत बार यह कहते हुए देखते हैं कि भाई! यदि कोई अपना भला चाहे तो वह सट्टे के व्यापार में न फंसे। यह खराब धन्धा है। कोई उन्हें पूछता है—फिर आप क्यों करते हैं? वे कहते हैं--यह हमारी आदत की लाचारी है। हम तो फंस गए। दूसरे इसमें कभी न फंसें। यह बरबादी का मार्ग है। इस मार्ग में पड़कर कोई सुखी नहीं हुआ है।

ठीक यही दशा उन लोगों की है जो तुच्छ शक्तियों के लिए अपनी मानसिक शक्ति नियोजित करते हैं। वे छोटी-छोटी सिद्धियों में उलझकर अपने महान् लक्ष्य को भुला बैठते हैं।

यह भी रुचि का प्रश्न है। कुछेक व्यक्ति अध्यात्म के मार्ग पर चलने में रुचि रखते हैं और कुछ चामत्कारिक साधना को अपना ध्येय बनाते हैं। दोनों की दो दिशाएं हैं। एक दिशा मंजिल तक पहुंचाती है और एक दिशा भटकाती है। एक आत्मगामी दिशा है और एक अनात्मगामी। एक आन्तरिक यात्रा की दिशा है और एक बहिर् भटकाव की दिशा है। मन की शक्ति का जागरण दोनों दिशाओं में होता है। केवल अन्तर है—उस शक्ति के उपयोग का।

अध्यात्म की साधना परम की साधना है। उसमें मन की शक्ति का उपयोग अध्यात्म की दिशा में करना होता है। मन को निर्मल बनाना, आत्म-साक्षात्कार करना—यह सबसे बड़ा चमत्कार है। इससे बढ़कर दुनिया में कोई चमत्कार नहीं हो सकता। आत्म-साक्षात्कार से बड़ा उपक्रम कोई है ही नहीं। इससे बड़ी कोई उपलब्धि नहीं है। जो साधक परम को पकड़ लेता है वह तुच्छ में नहीं उलझता। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे को नहीं देखता, स्वयं को ही देखता है। जो अनन्यदर्शी है वह दूसरे में रमण नहीं करता, वह स्व में ही रमण करता है। जो अनन्यदर्शी होता है वह दूसरे को नहीं चाहता, परम को ही चाहता है। जो अनन्य में रमण करता है, दूसरे में रमण नहीं करता, वह अनन्य को देख लेता है। वह अनन्यदर्शी हो जाता है।

अनन्य का अर्थ है--आत्मा। अनन्यदर्शन की प्रक्रिया आत्मदर्शन की प्रक्रिया

इनकी कार्य-प्रणाली को समझना बहुत ही कठिन है। अरबों-खरबों की संख्या में ये ज्ञान-तंतु हमारे मस्तिष्क में बिखरे पड़े हैं। इनका मन की शक्ति के जागरण में बहुत बड़ा उपयोग है।

प्राकृत चिकित्सा वाले कहते हैं कि कोष्ठबद्धता हो तो पहले स्थिर बैठकर ध्यानस्थ हो जाओ और ज्ञान-तंतुओं को सूचना दो कि शौच साफ हो रहा है, पेट साफ हो रहा है। ज्ञान-तन्तु वैसा ही आचरण करने लग जाएंगे। मानसिक विकास के क्षेत्र में स्वत सूचना या सूचनाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। सम्मोहन की प्रक्रिया भी आश्चर्यकारी है। इनकी पृष्ठभूमि में ज्ञानतन्तुओं का ही चमत्कार है। इन ज्ञानतन्तुओं में विचित्र क्षमताएं हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सम्मोहन का प्रयोग सूचना के आधार पर चलता है। सूचना के आधार पर शारीरिक अवयव भी उसी प्रकार काम करने लग जाते हैं। जब सूचनाओं के आधार पर ज्ञानतन्तु काम करने में तत्पर रहते हैं तब हम उनसे लाभ क्यों नहीं उठाए? अपने-आप सूचना दें। पुराने को बदलने के लिए, नए को घटित करने के लिए सूचनाएं दें। उन तन्तुओं के साथ आत्मीयता स्थापित करें। आप जो होना चाहेंगे, वह अवस्था घटित होने लगेगी। परिणमन प्रारंभ हो जाएगा। मन की शक्ति का विकास होने लगेगा।

मन की शक्ति के जागरण की यह एक प्रक्रिया है। इसे हम समझें।

तीन

हमारा जीवन दो विपरीत दिशाओं मे चल रहा है। एक है शक्ति की दिशा और दूसरी है शक्ति-शून्यता की दिशा। जब शक्ति जागृत नहीं होती तब अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और जब शक्ति जाग जाती है तब भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। शक्ति-शून्यता की अवस्था में आने वाली कठिनाइयां एक प्रकार की होती हैं और शक्ति-जागरण की अवस्था में आने वाली कठिनाइयां दूसरे प्रकार की होती हैं। शक्ति का न होना भी एक समस्या है और शक्ति का अधिक होना भी एक समस्या है। इन दोनों समस्याओं से हमें निपटना है।

शक्ति-जागरण के बाद यदि द्वन्द्वातीत चेतना नहीं होती, सारी चेतना द्वन्द्व में बद्ध होती है, उस स्थिति में भयंकर समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शक्ति के जागने के बाद उसे झेलने के लिए द्वन्द्वों से अतीत चेतना आवश्यक होती है। उसके बिना जागी हुई शक्ति से अनर्थ घटित हो सकता है। भूतों को वश में करने वाले जानते हैं कि जब भूत जागते हैं तब वे कि की मांग करते हैं। उस समय भूत-साधक घबड़ा जाता है। यदि वह उस स्थिति को नहीं संभाल पाता तो जागा हुआ भूत उसे ही लील जाता है। यदि वह साधक भूत की मांग पूर्ण कर देता है तो वह भूत उसके वश में हो जाता है। यही बात शक्ति-जागरण में घटित होती है। शक्ति-जागरण हो जाने पर जो साधक जागृत शक्ति की मांगें पूरी कर देता है तब तो वह शक्ति उसके लिए बहुत उपयोगी हो जाती है। यदि वह उसकी मांगें पूरी नहीं कर पाता तब वह जागी हुई शक्ति उसी को दमित कर जाती है। साधक के लिए वह शाप बन जाती है। द्वन्द्व-चेतना जब तक विद्यमान रहती है तब तक मनुष्य को जो चाहिए वह उपलब्ध नहीं कर सकता। शक्ति तो

है। जिन्हें भौतिक पदार्थ उपलब्ध नहीं होते उन मनुष्यों को इस सचाई का बोध नहीं होता क्योंकि उनकी सारी ऊर्जा पदार्थों की ओर ही प्रवाहित होती है। किन्तु जो लोग पदार्थों को उपलब्ध हो चुके हैं, जिन्हें भौतिक पदार्थों की कोई चाह नहीं है, उनको यह बोध होता है कि मनुष्य में एक ऐसी अमिट चाह है जो उन भौतिक पदार्थों से भी परे है। यह ज्ञात आता है कि ऐसी चीज भी है जो इन पदार्थों से परे है। यदि भौतिक पदार्थों की सम्पन्नता शिखर पर पहुंच जाए और आदमी पूर्ण संतुष्ट हो जाए, तब तो कथा समाप्त। कोई खोज की जरूरत ही नहीं। किन्तु शिखर पर पहुंचने पर तो ऐसा लगता है कि मानो एक नयी तलहटी पर पहुंच गए हैं। दूसरों की नयी तलहटी उनके सामने आ गयी है। तब लगता है, कुछ और होना चाहिए जो पूर्णता दे सके। ये भौतिक पदार्थ पूर्णता नहीं दे पा रहे हैं। उस स्थिति में इन्द्रातीत चेतना की खोज प्रारम्भ होती है और मनुष्य सोचते हैं कि इन्द्र-चेतना के परे भी कोई निर्द्वन्द्व चेतना हो जो मनुष्य को पूर्णता दे सके, अपूर्णता समाप्त कर सके। यह अभौतिकता की चाह जो अन्तर में होती है, उसे समझने का मौका मिल जाता है।

प्रत्येक शरीर के चारों ओर एक आभामण्डल होता है। आभामण्डल निर्जीव वस्तु में भी होता है। एक सिद्धांत है कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मियां विकीर्ण होती हैं, रश्मियों का उत्सर्जन होता है। यही फोटोग्राफी का सिद्धांत है। मनुष्य के चले जाने पर भी, उस स्थान पर उस मनुष्य का फोटो लिया जा सकता है। वह फोटो इसलिए लिया जा सकता है कि शरीर के चारों ओर से रश्मियां विकीर्ण होती हैं। आभामण्डल को हम देख नहीं पाते, किन्तु उसको देखने की भी एक पद्धति है। आप अंधेरे में बैठ जाएं। कहीं से प्रकाश की रेखा न आए। अपने हाथ को ऊंचा करें। थोड़े समय तक वैसे ही बैठे रहें। आपको हाथ तो दिखाई नहीं देगा, किन्तु हाथ के आसपास चारों ओर से जो आभामण्डल होता है वह दीखने लग जाएगा। दोनों हाथों को ऊंचा करेंगे तो यह लगेगा कि एक हाथ की रश्मियां दूसरे हाथ में आ रही हैं और दूसरे हाथ की रश्मियां पहले हाथ में आ रही हैं।

एक और प्रसिद्ध पद्धति है। दो व्यक्ति दस हाथ की दूरी पर अंधेरे में बैठ जाएं। वे एक-दूसरे को दिखायी नहीं देंगे। वे यदि नग्न हों तो उनका आभामण्डल स्पष्टता से दिखाई देने लगेगा। देखते-देखते कुछ समय के पश्चात् एक नीले रंग का आकार सामने दीखने लगता है। जो चीज प्रकाश में दिखायी नहीं देती वह अंधेरे में दीखने लग जाती है।

अभौतिक सत्ता की चाह, चेतन तत्त्व की चाह जिसका हमें जीवन की चकाचौंध में, अंधेरे में पता ही नहीं लगता था, किन्तु जहां भौतिक पदार्थों का सेवन करते-करते जीवन में घोर अंधेरा छा जाता है तब पता चलता है कि भीतर में एक और भी चाह है जो इन चाहों से बहुत बड़ी चाह है। वह चाह ही इस सचाई

४. शक्ति की श्रेयस् यात्रा

- जब द्वन्द्व के आघात से चेतन सत्ता के साक्षत् की भावना और स्वतन्त्रता की अनुभूति जागती है तब आत्मिक उन्मेष घटित होता है। यही है—सामायिक।
- जितना आत्मा का अनुभव उतना ही समभाव।
- ध्यान और ध्येय के बीच की दूरी जितनी अधिक उतने ही विकल्प अधिक, जितनी दूरी कम उतने ही विकल्प कम। दूरी समाप्त, विकल्प समाप्त।
- हमारा परिणमनात्मक अस्तित्व। इस प्रक्रिया से हम तन्मय या तद्रूप हों, हम वही हो जाते हैं जैसा हमारा ध्येय होता है।

□□

है। उसकी समूची यात्रा श्रेयम् की, कल्याण की, ओर होती है। वह स्वयं को जानने का प्रयत्न करता है, स्वयं को पाने का प्रयत्न करता है। और जब व्यक्ति स्वयं को जानने और पाने का प्रयत्न करता है तब वह दूसरों के लिए अहितकर, अकल्याणकर या अश्रेयस्कर नहीं होता। वह ऐसा हो ही नहीं सकता। हजार प्रयत्न करने पर या हजार परिस्थितियों के आने पर भी वह अनिष्ट, अहित या अश्रेयम् नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपने-आपको देखना या जानना प्रारंभ कर लेता है, उसे इतनी बड़ी सचाई उपलब्ध हो जाती है, मूर्च्छा के सारे वलय इस प्रकार टूट जाते हैं कि वह फिर मूर्च्छा के चक्रवात में नहीं फंसता। वह मूर्च्छा से चालित नहीं होता। आज तक वह उस बिन्दु से प्रेरित होता रहा है जिसकी आदि नहीं खोजी जा सकी है। वह उस मूर्च्छा के थपेड़ों से प्रताड़ित होता रहा है, जिससे छूटने का प्रयत्न करने पर भी नहीं छूट पाया है। किन्तु जब स्वयं को जानने-देखने की अभीप्सा तीव्र होती है तब एक ऐसा बिन्दु आता है कि मूर्च्छा का वलय टूटने लगता है, मूर्च्छा की तन्द्रा समाप्त होती है और आदमी जाग जाता है। जागरण की अवस्था में कुछ विचित्र-सा घटित होता है।

एक व्यक्ति में जब जागरण घटित हो गया तब उसने कहा :

> "बन्धो ! क्रोध ! विधेहि किञ्चिदपरं स्वस्याधिवासास्पदं,
> भ्रातर् ! मान ! भवानपि प्रचलतु, त्वं देवि ! माये ! व्रज।
> हंहो ! लोभ ! सखे ! यथाभिलषितं गच्छ द्रुतं वश्यता,
> नीतः शान्तरसस्य सम्प्रति लसद्वाचा गुरूणामहम् ॥"

—'भाई क्रोध ! अब तुम अपना दूसरा ठिकाना खोज लो। इस स्थान में तुम्हें अब अवकाश नहीं है।' क्रोध ने सोचा—'यह क्या ? यह कैसा पागल है ? हम अनन्त काल से साथ रह रहे हैं, आज यह अचानक मुझे बाहर ढकेल रहा है। यह क्या हो गया ?' साधक ने मान को सम्बोधित कर कहा—'भाई मान ! तुम भी चले जाओ। हे देवी माया ! अब तुम्हारा यहां कोई काम नहीं है। तुम भी चली जाओ।' सबने सोचा, शायद साधक पागल हो गया है, अन्यथा वह अपने जीवनसाथियों को चले जाने के लिए क्यों कहता। हमने कभी यह सोचा भी नहीं था कि इससे बिछुड़ना पड़ेगा। यह हमें इस प्रकार चुनौती देगा, यह हमारे समझ से परे की बात थी। इतने में साधक ने कहा—'अरे भाई लोभ ! तुम भी अपना स्थान खाली करो। यहां से जहां चाहो वहां चले जाओ। क्रोध, मान, माया और लोभ—चारों असमंजस में पड़ गए। उन्होंने कहा—'हम सदा से तुम्हारे साथ रहे हैं। एक क्षण के लिए भी हमने तुम्हारा साथ नहीं छोड़ा। तुम्हारे सुख में भी हम साथ रहे और दुःख में भी हमने तुम्हारा साथ निभाया। आज तुम हमें छोड़ रहे हो, यह अन्याय है।'

साधक ने कहा—'जब मैं सोया था तब तुम जागते थे। जब तक मैं सोता

सबसे पहली बात है सान्निध्य की। कोई व्यक्ति समता की यात्रा प्रारंभ करता है, यह अनजानी यात्रा है, अज्ञात यात्रा है। यह वह मार्ग है जिस पर वह पहले कभी चला नहीं है। यह वह दिशा है जिस दिशा में पैर कभी आगे नहीं बढ़े हैं। सारा अज्ञात ही अज्ञात। अज्ञात मार्ग में, अज्ञात दिशा में सहारा अपेक्षित होता है। अन्यथा व्यक्ति भटक जाता है। जहाजों के लिए भी दिशा-निर्देश यंत्र की आवश्यकता होती है, जो दिशा का ठीक निर्देश दे सके। इसी प्रकार इस अज्ञात यात्रा में किसी न किसी व्यापक या गमक साधन की जरूरत होती है, जिससे ठीक दिशा का पता लग सके और सही दिशा में यात्रा हो सके। अध्यात्म के इस अनजाने मार्ग पर पादन्यास करने से पूर्व साधक सान्निध्य की याचना करता है। वह कहता है—'करेमि भंते ! सामाइयं—भगवन् ! मैं सामायिक में उपस्थित हो रहा हूं, मैं सामायिक कर रहा हूं। आपकी सन्निधि मुझे प्राप्त हो, आपका सान्निध्य मुझे प्राप्त हो। मैं आपकी साक्षी से इस मार्ग पर चल पड़ा हूं।'

वह सामायिक करता है भगवान् की साक्षी से। वह पहले सान्निध्य को अपने में उतारता है। वह उस आत्मा के सान्निध्य को उपलब्ध होता है, जिस आत्मा ने सामायिक के चरम शिखर पर पहुंचकर सामायिक के उत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है। ऐसे सान्निध्य को प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं होता जिसने स्वयं सामायिक का अभ्यास नहीं किया है। ऐसा सान्निध्य और अधिक असामायिक की ओर ले जाएगा। सान्निध्य का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। कोई एक व्यक्ति सामायिक के पथ पर चल रहा है और उसे सान्निध्य मिलता है असामायिक की ओर ले जाने वाले व्यक्ति का, विषमता की ओर ले जाने वाले व्यक्ति का तो रास्ता छूट जाएगा और व्यक्ति भटक जाएगा। वह कहेगा—'कहां जा रहे हो ? हिंसा और उत्पीड़न किए बिना रोटी कमाकर कैसे खा सकोगे ? क्या बिना पैसे के बाल-बच्चों को पढ़ा पाओगे ? क्या रहने के लिए मकान बना पाओगे ? क्या आधुनिक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर सकोगे ? तुम कहां भटक गए ? यह सामायिक का रास्ता गलत है।' यह व्यक्ति ऐसा भटकता है, मार्ग-च्युत होता है कि सामायिक वहीं रह जाती है, पीछे छूट जाती है और वह पुनः विषम मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। इसलिए सान्निध्य ऐसा मिले जो समता की ओर बढ़ा सके, आगे ले जा सके, जिससे यह सतत प्रेरणा और स्फुरणा मिलती रहे कि जीवन में यदि सामायिक उपलब्ध नहीं हुआ तो कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ। सब कुछ पाकर भी व्यक्ति दरिद्र है यदि उसे सामायिक प्राप्त नहीं है। वह बेचारा गरीब ही बना रहा जिसने सामायिक को उपलब्ध नहीं किया और जिसने समता का आस्वादन नहीं किया।

जब हमारे सामने एक परम पवित्र आत्मा विराजमान रहती है, हमारा स्पष्ट होता है, उस परम आत्मा का सान्निध्य हमारे अन्तःकरण में, हमारी चेतना के

दोनों जरूरी हैं। ध्यान के विकास के लिए कल्पना करना बहुत जरूरी है। ध्यान में बैठने से पूर्व कल्पना करनी चाहिए। अर्हत् की कल्पना करें। एक स्वस्थ आकृति खींचें। मन में एक स्वस्थ आकृति का निर्माण करें। जब तक कोई आकृति स्पष्ट नहीं होती तब तक काम आगे नहीं बढ़ सकता। सबसे पहले कल्पना करनी होती है, एक चित्र का निर्माण करना होता है कि मैं यह बनना चाहता हूं। ध्यान में यह क्षमता है कि वह आपको अपने संकल्प के अनुसार ढाल सकता है। जैसा चाहें वैसा बनें—इसमें ध्यान माध्यम बनता है। एक व्यक्ति चाहता है कि मैं अमुक व्यक्ति को पीड़ित करूं। ऐसी शक्ति भी ध्यान के द्वारा ही प्राप्त होती है, एकाग्रता के द्वारा ही प्राप्त होती है। एकाग्रता के द्वारा शक्ति को अर्जित कर अनेक व्यक्ति दूसरों का उत्पीड़न करते हैं, दूसरों को सताते हैं, लूटते हैं और मार भी डालते हैं। यह शक्ति भी ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है। कोई व्यक्ति किसी का भला करना चाहे, अच्छा करना चाहे तो यह शक्ति भी ध्यान के माध्यम से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार दोनों प्रकार की शक्तियां ध्यान के माध्यम से ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए आत्मविकास करने वाले व्यक्ति का यह पहला कर्त्तव्य है कि जो बनना है उसका वह चित्र बनाए। जब तक यह नहीं होता, तब तक जो बनना होता है वह नहीं बना जा सकता।

इसके पश्चात् संकल्पशक्ति का उपयोग करें, इच्छाशक्ति का उपयोग करें। जो हमारी भावना है उसमें प्रबलता लाएं। भावना में प्रबलता का नाम ही इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति या दृढ़ निश्चय है। जब इच्छाशक्ति दृढ़ और प्रबल होती है तब 'बनने' की दिशा में गति प्रारंभ हो जाती है। इच्छाशक्ति के द्वारा विचारों में ऐसे प्रकंपन पैदा होते हैं कि हमारा परिणमन प्रारंभ हो जाता है। न केवल हमारे विचारों में प्रकंपन शुरू होता है किन्तु आकाश-मंडल भी प्रकंपित हो उठता है। वायुमंडल में प्रकंपन होते हैं और वह घटित होने लग जाता है, जो होना है।

हम कभी-कभी सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। कैसे किया—यह एक प्रश्न है। जिस व्यक्ति के मन में महावीर का चित्र स्पष्ट था, उसने महावीर का साक्षात् कर लिया। जिस व्यक्ति के मन में राम या कृष्ण का चित्र स्पष्ट था, उसने राम या कृष्ण का साक्षात् कर लिया। यह साक्षात् उसी रूप में होता है जिस रूप में व्यक्ति ने महावीर, राम या कृष्ण को देखा है, जाना है, समझा है। जिस व्यक्ति के मन में आचार्य भिक्षु का चित्र स्पष्ट था उस व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के दर्शन कर लिए। न जाने कितने भक्त कितने भगवानों को देख लेते हैं। वे देखते उसी भगवान् को हैं जिसका चित्र मन में स्पष्ट होता है। दूसरे भगवानों को नहीं देखा जा सकता। इसका तात्पर्य यही है कि पहले हमने एक चित्र बनाया। फिर कल्पनाशक्ति या संकल्पशक्ति के द्वारा वायुमंडल को इतना आन्दोलित कर दिया, इतनी तरंगें पैदा कर दीं कि सारा

वही ज्ञान ध्यान है जो एकाग्र है, एक आलंबन पर चलने वाला है।

ध्याता और ध्येय मे बहुत बड़ी दूरी है। उसे पाटना बहुत कठिन होता है। जब साधक इस दूरी को पाटने का प्रयत्न करता है तब बीच मे अनेक अवरोध आ जाते हैं। ध्यान भंग हो जाता है। एकाग्रता मिट जाती है। मन बाहर की चीजो मे उलझ जाता है। ध्येय धुंधला हो जाता है, छूट जाता है। जब ध्येय की दिशा मे गमन ही नही होता या भटकाव हो जाता है तब ध्येय उपलब्ध कैसे हो सकता है? जब चरण ध्येय की दिशा मे बढ़ते ही नही, तब वहा तक पहुचने की बात ही प्राप्त नहीं होती। ध्येय की दूरी नही मिट सकती। दूरी तभी मिट सकती है जब हमारे मन की गति निरंतर ध्येय की दिशा मे होती है। जब मन व्यग्रता से शून्य हो जाता है तब ध्येय की निकटता होने लगती है। जब निकटता बढ़ते-बढ़ते हमारे चरण ध्येय तक पहुच जाते हैं तब मन की जो स्थिति बनती है, वह है तन्मयता। तन्मय हो जाने का अर्थ है—एक हो जाना। ध्येय और ध्याता तब दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं। जो पूर्व रूप था वह मिट जाता है और जो ध्येय का रूप है वह अवतरित हो जाता है। पूर्व व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और ध्येय का व्यक्तित्व समाविष्ट हो जाता है। वहा 'मैं' समाप्त हो जाता है। जो बनना होता है वह घटित हो जाता है। साधक उस स्थिति मे चला जाता है, जहा ध्याता और ध्येय दो नही रहते। ध्याता स्वय ध्येय रूप बन जाता है। फिर व्यक्ति अलग नही होता और सामायिक अलग नहीं होती। व्यक्ति स्वय सामायिक बन जाता है। फिर वह ऐसा नही कह सकता कि मैं सामायिक कर रहा हूं। कौन करने वाला और कौन सामायिक? 'मैं सामायिक करता हूं'—इसका तात्पर्य है कि एक करने वाला है और एक की जाने वाली वस्तु है। यह भेद समाप्त हो जाता है। तब 'मैं' और 'सामायिक' दो नही रहते। करने की बात छूट जाती है। सामायिक जीवन मे अवतरित हो जाती है। समता के ध्येय को उपलब्ध करने के लिए जीवन मे सामायिक की घटना घटित होनी आवश्यक होती है। इसकी संपूर्ति के लिए चारों प्रकार की शक्तियो का उपयोग करना होता है—

१. कल्पना की शक्ति	३. एकाग्रता की शक्ति
२. इच्छा की शक्ति	४. तन्मयता की शक्ति

जब ये चारों शक्तिया साधक को उपलब्ध हो जाती हैं, तब जीवन मे सामायिक अवतरित होती है। यह केवल सामायिक की ही प्रक्रिया नही है। आप जो भी ध्येय बनाए, जो भी चित्र बनाए, जिसको उपलब्ध होना चाहते है, उसकी यही प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के द्वारा आप जो चाहें वह साध सकते है, उसे उपलब्ध कर सकते है। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

हम प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। हमारा ध्येय है—चैतन्य का अनुभव

५. व्यक्तित्व का नव निर्माण

- भौगोलिक व्यक्तित्व—जो आकार-प्रकार देता है।
- आनुवंशिक व्यक्तित्व—जो जन्म के साथ-साथ बहुत कुछ देता है।
- सामाजिक व्यक्तित्व—जो विकास और प्रकाश का अवसर देता है।
- शारीरिक व्यक्तित्व—जो तृप्ति-अतृप्ति की अनुभूति का माध्यम बनता है।
- मानसिक व्यक्तित्व—जो सबके दायित्वों और प्रतिक्रियाओं का भार अकेला ढोता है।
- परामानसिक व्यक्तित्व—जो व्यक्ति के सभी प्रकारों पर अपना स्वामित्व रखता है, सबको अपने प्रभाव में संचालित करता है।

□□

मिलते हैं, यह सब आनुवंशिकता के कारण मिलता है। हमारे व्यक्तित्व का एक खण्ड है—आनुवंशिक व्यक्तित्व।

व्यक्तित्व का तीसरा खंड है—सामाजिक व्यक्तित्व। समाज के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। वह समाज से परे रहने पर नहीं बनता। एक आदमी दूसरे से बातचीत करता है, स्पष्ट बोलता है। अपनी बात दूसरों को समझाता है और दूसरों की बात स्वयं समझता है, यह विकास समाज के आधार पर ही होता है। यदि समाज न हो तो यह विकास नहीं हो सकता। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार करता है, लेन-देन करता है, यह सारा सामाजिक व्यक्तित्व है। जितनी परस्परता है वह सामाजिक व्यक्तित्व है। समाज के नियम हैं, समाज की व्यवस्थाएं हैं और समाज की अवधारणाएं हैं। एक व्यक्ति एक प्रकार की वेशभूषा पहनता है और दूसरा दूसरे प्रकार की। यह सामाजिक प्रभाव है। जो व्यक्ति जिस समाज में रहता है वह उसकी अवधारणा के अनुसार वस्त्र पहनता है और यदि वह कुछ भी परिवर्तन करता है तो वह स्वयं एक प्रश्नचिह्न बन जाता है। वेशभूषा, व्यवहार और आचार-विचार—ये सारे हमारे सामाजिक व्यक्तित्व के कारण हैं। यदि व्यक्ति अकेला व्यक्ति होता, यदि उसका सामाजिक व्यक्तित्व नहीं होता तो शायद व्यक्ति अपने तक ही सीमित रहता, बहुत विकास नहीं कर पाता। यह हमारे व्यक्तित्व का तीसरा महत्वपूर्ण खंड है।

चौथा खंड है—शारीरिक व्यक्तित्व। शरीर के आधार पर हमारा एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। शरीर की अवधारणाओं के आधार पर, शरीर की दीप्ति के अनुसार एक व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे बहुत सारे कार्य शारीरिक अवधारणाओं के आधार पर होते हैं। शरीर की मांग के आधार पर, शरीर की तृप्ति और अतृप्ति के आधार पर अनेक वर्जनाएं और कार्य की अनेक विधाएं चल सकती हैं।

पांचवां खंड है—मानसिक व्यक्तित्व। यह सब व्यक्तित्वों का भार ढोने वाला है। यह सब व्यक्तित्वों के दायित्वों और प्रतिक्रियाओं का भार ढोता है। परामानसिक व्यक्तित्व का भार भी वही ढोता है। सभी प्रकार के व्यक्तित्वों के दायित्व का वहन करना, प्रतिक्रियाओं को झेलना, क्रियाओं का उपार्जन करना—यह सब मानसिक व्यक्तित्व करता है। यह व्यक्तित्व मन के आधार पर खड़ा है। इसने अनेक मान्यताएं बना रखी हैं। इसमें दोनों प्रकार की मान्यताएं हैं—वर्जना की मान्यताएं और बहुत करने की मान्यताएं। हमने इतनी मान्यताएं खड़ी कर रखी हैं कि पूरा मानसिक व्यक्तित्व हमारे ऊपर छाया हुआ है।

ये पांचों व्यक्तित्व स्पष्ट हैं। इनकी प्रतिष्ठापना के लिए बहुत तर्क अपेक्षित नहीं हैं। बहुत सरलता से इन्हें समझाया जा सकता है। व्यक्ति पर माता-पिता

दूसरे लोग रहते हैं। कुछ लोगों पर भौगोलिकता का असर नहीं होता और कुछ
लोगों पर भौगोलिकता का प्रभाव होता है। इसकी व्याख्या कैसे की जाए ? यदि
हम केवल भौगोलिकता के आधार पर उसकी व्याख्या करें तो पूरी व्याख्या नहीं
हो सकती। परा-मानसिक व्यक्तित्व उसमें परिवर्तन ला देता है। आनुवंशिकता
की बात भी ऐसी ही है। यह भी सर्वथा लागू होने वाला सार्वभौम सिद्धांत नहीं
है। शारीरिक, सामाजिक और मानसिक व्यक्तित्वों में भी अनेक अपवाद मिलते
हैं। उन सब अपवादों को घटित करने वाला परा-मानसिक व्यक्तित्व है। परा-
मानसिक व्यक्तित्व व्यक्ति को चलते-चलते बदल देता है। चेतन मन की इच्छा
होती है—साधना करूं, ध्यान करूं। किन्तु परा-मानसिक व्यक्तित्व एक ऐसी
प्रक्रिया चालू करता है कि ध्यान कहीं का कहीं रह जाता है, सर्वथा छूट जाता
है और व्यक्ति ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओं में चला जाता है। मन की इच्छा
कुछ होती है और उसके विपरीत ही सब कुछ घटित होने लग जाता है। कोई
क्ति सच्चरित्र है, सामाजिक प्रतिबद्धताओं, नियमों और अवधारणाओं को
नकर चलने वाला है, किन्तु ऐसा कोई अकल्पित कार्य कर बैठता है कि लोग
आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे सोचते हैं—ऐसे आदमी ने यह जघन्य अपराध
कैसे कर डाला ? कितना समझदार, बुद्धिमान् और विवेकी था वह, फिर भी
यह कार्य कर बैठा। वहां लोगों की समझ काम नहीं करती। तर्क के आधार
पर भी इसे नहीं समझा जा सकता। वह कार्य अतर्कित और अहेतुक है।
कोई तर्क या हेतु स्पष्ट नहीं दीखता। किन्तु उसके भीतर भी एक सूक्ष्म हेतु
है, जो उस कार्य को घटित करता है। वह सूक्ष्म हेतु अन्दर काम करता है। हम
सामायिक करें, मन की शक्ति के साथ समता का उपयोग करें या और कुछ करें,
हम इस सचाई को अवश्य समझें कि जब तक अतीत हमारा पीछा करता रहेगा
तब तक हम जो चाहते हैं वह जीवन में घटित नहीं कर पायेंगे। अतीत का भूत
मारा पीछा कर रहा है, हम इससे पीछा छुड़ाएं। जब ऐसा होगा तभी हम
त्र रूप में अपना स्वतन्त्र जीवन संचालित कर पायेंगे। यह हमारा पीछा करता
, हम उससे न बच पाएं तो हम स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नहीं पनपा सकेंगे।
तना का सामना हमें पग-पग पर करना पड़ेगा।

सामायिक करने वाला व्यक्ति इस बात से बहुत सावधान और जागरूक
है, इसीलिए वह कहता है—"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं
पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न
मि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि
र अप्पाणं वोसिरामि।"—"भंते मैंने आपका सान्निध्य प्राप्त किया है।
नाभाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने का संकल्प किया है। मैंने सावद्य
र प्रवृत्तियों को त्यागने का संकल्प किया है। मैं कोई भी असत् नहीं

प्रकार की वासनाएं उभर आती हैं। व्यक्ति निराश हो जाता है। सोचता है—ध्यान मेरे वश की बात नहीं है। ध्यान मन की शांति के लिए करता हूं किन्तु ध्यान करने के लिए बैठते ही मन अशांत हो जाता है। वह निराश व्यक्ति ध्यान को छोड़ देता है। जब तक द्रष्टाभाव का विकास नहीं होता तब तक स्थिति में परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से द्रष्टाभाव विकसित होता है। प्रेक्षाध्यान से वह सुस्थिर होता है। हमारी चेतना की ऐसी अवस्था निर्मित हो जाती है कि जो कुछ घटित होता है वह देखा जाता है, प्रतिक्रिया नहीं होती। साधक मात्र द्रष्टा रहे, प्रतिक्रिया न करे। द्रष्टाभाव का विकास होते ही प्रतिक्रियाएं पीछे रह जाती हैं।

अतीत का रेचन करने के लिए दो आलंबन अपेक्षित हैं—कायोत्सर्ग और प्रेक्षा। जब साधक को यह लगे कि अतीत सता रहा है, मन को झकझोर रहा है, वासनाएं उभर रही हैं, आकांक्षाएं बढ़ रही हैं, लोभ बढ़ रहा है, तृष्णा बढ़ रही है—ये बातें मन में जागती हैं तब साधक कायोत्सर्ग करे। जो भी विचार आए, उसे देखता रहे। विचारों को रोके नहीं। उन्हें आने का मुक्त अवकाश दे। द्रष्टाभाव में देखता जाए। जो आता है वह अपने-आप चला जाएगा। जब साधक द्रष्टाभाव में रहता है तब अतीत कुछ बिगाड़ नहीं सकता। कर्मों का, संस्कारों का उभार होता है, उनका उदय होता है, साधक द्रष्टाभाव से सब कुछ देखता जाता है। वे विपाक होते हैं और मिट जाते हैं। उनका आना-जाना चालू रहता है और साधक का देखना चालू रहता है। यही प्रेक्षाध्यान की पद्धति है।

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र लिखा। उसमें बारह प्रकरण हैं। प्रथम ग्यारह प्रकरणों में उन्होंने परंपरागत ध्यान की पद्धति का प्रतिपादन किया और बारहवें प्रकरण में अपने अनुभूत तथ्यों का उल्लेख किया। उन्होंने लिखा—मैं जो कुछ इस प्रकरण में लिख रहा हूं वह किसी शास्त्र के आधार पर नहीं लिख रहा हूं, किसी परंपरा के आधार पर नहीं लिख रहा हूं, किन्तु मेरा अपना जो अनुभव है वह मैं यहां प्रगट कर रहा हूं। अपने अनुभवों के प्रकटीकरण में उन्होंने बताया कि जो विचार आते हैं उन्हें रोको मत। विचारों को रोकने से वे भीतर दब जाते हैं। ऐसा लगता है कि उनके ये विचार आज की मनोविज्ञान की भाषा में इस प्रकार कहे जाते हैं—इच्छाओं का दमन मत करो। इच्छाओं का दमन करोगे तो वे और गहरे में चली जाएंगी और फिर भयंकर रूप धारण कर सताएंगी।

आचार्य कहते हैं—विचारों को रोको मत, दबाओ मत। तो क्या बुरे विचारों को भी आने दें? धार्मिक लोग भला बुरे विचारों को कैसे आने देंगे। वे कहेंगे—बुरे विचारों पर नियंत्रण लगाना चाहिए। उन्हें रोकना चाहिए। आज के धार्मिक स्वयं के बुरे विचारों के प्रति इतने जागरूक नहीं होते, जितने जागरूक वे दूसरों के बुरे कर्मों के प्रति रहते हैं। वे दूसरों को बुरे कर्मों से बचाने के लिए

है कि आत्मा पूर्ण है। आत्मा को कुछ भी लेना नही है, उपादेय कुछ भी नही है। यहां केवल रेचक की बात प्रधान है। हमारी पूर्णता इसलिए प्रगट नही होती कि हम रेचन करना नहीं जानते। हमारे सकल्प, हमारी कामनाए और भावनाए, हमारे मनोरथ इसीलिए अधूरे रह जाते हैं कि हम रेचन करना नही जानते। हम रेचन करना सीखें।

सामायिक के साथ रेचन की बात आवश्यक अग के रूप मे जुडी हुई है। 'तस्स भते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि'—यह रेचन की प्रक्रिया है।

प्रत्येक साधक रेचन करना सीखे। अच्छे विचार आने पर खुशी न हो और बुरे विचार आने पर निराश न हो। जो होता है उसे होने दो। जब नए लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं तब बुरे विचार आते ही घबरा जाते हैं। वे कहते हैं—आज बहुत बुरा हुआ। मैं कहता हू—बहुत अच्छा हुआ कि उतनी गदगी बाहर निकल गयी। ध्यान का अर्थ है—गहराई मे जाना। जब व्यक्ति गहराई मे उतरता है तब एक के बाद एक परत उघड़ती है और दबे हुए सारे सस्कार उदित होने लगते हैं। *यह ध्यानकाल के प्रारंभ मे होना ही है। साधक इससे घबराए नही।*

दो प्रकार के ज्वर होते हैं—हाडज्वर और सामान्यज्वर। जब ज्वर हड्डिगत हो जाता है तब लगता है कि कोई ज्वर नही है, किन्तु वह ज्वर बहुत ही खतरनाक होता है। जिस ज्वर के लक्षण प्रत्यक्ष दीखते हैं उसकी चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु अस्थि-ज्वर ऐसा नही है। वह बाहर नही दीखता। भीतर ही भीतर चलता है। विचारो का, सस्कारो का भी यही क्रम है। साधक के द्वारा जब उन सस्कारो को कुरेदा जाता है, उखाडा जाता है तब वे आक्रमण करते हैं।

जो साधक ध्यान की गहराई मे जाता है वह इस बात से न घबराए कि बुरे सस्कार उभर रहे हैं, बुरे विचार आ रहे हैं। यदि वह घबरा कर ध्यान छोड देता है तो वह पथच्युत हो जाता है। यदि वह उस स्थिति को सभाल लेता है तो आगे बढ़ जाता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहा से व्यक्ति नीचे गढे मे भी गिर सकता है और छलाग मार कर ऊपर शिखर पर भी पहुंच सकता है।

इसलिए सामायिक की साधना करने वाला व्यक्ति समझ लेता है कि जो अतीत का ऋण या देय है, वह प्रगट होगा, सामने अवश्य ही आएगा, किन्तु मुझे *घबराना नहीं है, क्यों कि मैं अपने व्यक्तित्व के नव निर्माण मे लगा हुआ हू* और पुराने व्यक्तित्व को विसर्जित करने मे प्रयत्नशील हू। मैंने अनेक मान्यताओं और धारणाओ के आधार पर जिस व्यक्तित्व का निर्माण किया था उसे आज छोड रहा हू, उसका रेचन कर रहा हू। व्यक्तित्व के नव निर्माण के लिए नई ईंटें,

६. मानसिक स्वास्थ्य

- शक्ति और समता की धारा एक साथ बहती है तब मानसिक स्वास्थ्य घटित होता है।
- समता की साधना के सूत्र ही मानसिक स्वास्थ्य की साधना के सूत्र हैं—
  - अपने-आप को जानें—अपनी क्षमता-अक्षमता को जानें।
  - अपने कृत के परिणामों को स्वीकार करें।
  - सत्य (सार्वभौम नियमों) के प्रति समर्पित रहें।
  - सहिष्णुता को विकसित करें।
  - अपना यथार्थ रूप प्रस्तुत करें।

पर्सनेलिटी पेरामीटर

इससे व्यक्तित्व का अङ्कन और मानसिक स्वास्थ्य की परख होती है।

इसके छह सङ्केत-बिन्दु हैं—

१. वेशभूषा—कपड़े कैसे पहनता है? अपने प्रति कितना सजग है?
२. व्यवहार—विभिन्न परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करता है?
३. विचार—अपने बारे में तथा दूसरे के बारे में कितना सामञ्जस्य स्थापित कर पाता है।
४. प्रतिक्रिया—उतार-चढ़ाव या विभिन्न परिस्थितियों की क्या प्रतिक्रिया होती है?
५. स्वभाव कैसा है?—आशा, निराशा, मिलनसारिता।
६. निर्णय-शक्ति—व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों स्तर पर।

□□

अनुताप से भर जाता है। अपने प्रति अभद्र व्यवहार देखकर व्यक्ति भभक उठता है, मन में असंतोष उभर आता है क्योंकि वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता। जब वह अपनी अक्षमता को नहीं जानता तब वह दूसरों को ही देखता है, स्वयं को नहीं देख पाता। पिता के दो पुत्र हैं। पिता एक पुत्र को दायित्व सौंप देता है तब दूसरे के मन में असंतोष की ज्वाला उभर आती है। यह इसलिए उभरती है कि वह यह नहीं जानता कि वह इस दायित्व के लिए अक्षम है। जो व्यक्ति अपने आप को नहीं जानता वह अपने मन में सदा जलने वाली आग सुलगा देता है और उसमें सदा जलता रहता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए स्वयं की योग्यता और अयोग्यता का निरीक्षण बहुत आवश्यक है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का दूसरा सूत्र है—परिणामों की स्वीकृति। हम प्रवृत्ति करते हैं, किन्तु उसके परिणामों को स्वीकार नहीं करते और इसीलिए मन में असंतोष और अशांति पैदा होती है। कृत के परिणामों से जहां अपनेआप को बचाने की मनोवृत्ति होती है, वहां मानसिक स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है। रोग का एक कीटाणु उसमें घुस जाता है। परिणाम को स्वीकार करने के लिए मन बहुत शक्तिशाली चाहिए। जो मन शक्तिहीन होता है वह कभी परिणामों को स्वीकार नहीं कर सकता। हमें अच्छे या बुरे—सभी प्रकार के परिणामों को स्वीकारना चाहिए। इसमें कभी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। जिस व्यक्ति में परिणामों को स्वीकार करने का साहस नहीं होता, भय होता है वह परिणामों को दूसरे के माथे पर मढ़ देता है। स्वयं बच निकलना चाहता है। यदि परिणाम अच्छा है तो उसका श्रेय स्वयं लेना चाहेगा और यदि बुरा परिणाम है तो उसका अश्रेय दूसरे पर उंडेल देगा। यह साहसहीनता है। इससे मन मलिन होता है, बीमार होता है।

मानसिक स्वास्थ्य की साधना का तीसरा सूत्र है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य की व्याख्या बहुत ही जटिल है। किसे सत्य माना जाए ? हमें इसमें उलझना नहीं है। सत्य का अर्थ है—सार्वभौम नियम (युनिवर्सल ट्रुथ)। मृत्यु एक सार्वभौम नियम है, यह एक बड़ी सचाई है। कोई भी इसे नहीं टाल सकता। इस दुनिया में तीर्थंकर, भगवान्, अर्हत्, मसीहा आदि-आदि अनेक शक्तिशाली व्यक्ति हुए हैं जो इस शाश्वत नियम को नहीं टाल पाए हैं। कोई भी इस सार्वभौम नियम का अपवाद नहीं बन सकता। कोई अमर नहीं रह सकता। कोई भी प्राणी सदेह अमर नहीं होता। विदेह में जो अमर होता है वह हमारे सामने नहीं है। मृत्यु एक सचाई है। कर्म एक सचाई है। काल एक सचाई है। वस्तु का स्वभाव एक सचाई है। जो भी सार्वभौम सचाइयां हैं, शाश्वत सत्य हैं, उनके प्रति जो समर्पित रहता है, वह मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह सकता है।

व्यक्ति के पास एक घड़ी थी। वह गुम हो गयी। व्यक्ति रोने लगा। उसका

है और दूसरे ही क्षण में नाराज हो जाता है। मन के अनुकूल होता है तो वह राजी होता है और प्रतिकूल होने पर तत्काल नाराज हो जाता है। वह मदारी के हाथ का बंदर बन जाता है। जब चाहो तब नचा लो, जैसा चाहो वैसे नचा लो। समता के आने पर यह सब छूट जाता है। नाराजगी और राजीपन का चक्र टूट जाता है।

मन की अनन्त पर्यायें हैं। वह प्रतिपल बदलता रहता है। मन के आधार पर किसी एक निश्चित सिद्धांत की स्थापना नहीं की जा सकती। किसी भी एक निश्चय की अनुभूति नहीं की जा सकती। मन अनेक रूप बदलता है। इसको एक निश्चय पर ले जाने का एक ही मार्ग है, वह मार्ग है—सहिष्णुता का। सहिष्णुता और समता का पारस्परिक अनुबंध है। सहिष्णुता से समता का विकास होता है। मन अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों स्थितियों को समभाव से सह सके, यह है उसको एक निश्चय पर ले जाना।

जब व्यक्ति सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है तब समता की साधना विकसित होती है। जो व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित नहीं होता वह सामायिक नहीं कर सकता, समता की साधना नहीं कर सकता। समता और मानसिक स्वास्थ्य अलग-अलग नहीं हैं। समता का ही एक नाम है—स्वास्थ्य। दोनों पर्यायवाची हैं। आयुर्वेद में शरीर के स्वास्थ्य को ही स्वास्थ्य नहीं माना है, मन के स्वास्थ्य को भी स्वास्थ्य माना है। एक प्रश्न आया कि स्वस्थ कौन है? इसके उत्तर में कहा गया—

'समाग्नि : समदोषश्च, समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना , स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।'

—जिस व्यक्ति के शरीर की धातुएं सम हैं, विषम नहीं हैं, अग्नि सम है, विषम नहीं है, दोष और मल की क्रिया भी सम है, वह स्वास्थ्य के ये लक्षण हैं। जिसकी इन्द्रियां उच्छृंखल नहीं हैं, जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण है, जो प्रसन्न आत्मा है, वह स्वस्थ है। जिसकी शरीर की धातुएं और मल-दोष सम हैं किन्तु मन की प्रसन्नता नहीं है, निर्मलता नहीं है तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है वह स्वस्थ नहीं हो सकता। स्वस्थ रहने के लिए शरीर की क्रियाओं का ठीक होना और मन की प्रसन्नता होना—दोनों आवश्यक हैं। मन की प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नहीं है। जहां हर्ष है वहां शोक है। जहां शोक है वहां हर्ष है। केवल हर्ष या केवल शोक नहीं होगा। यह एक जोड़ा है, द्वन्द्व है। मन की निर्मलता इससे भिन्न वस्तु है। 'निर्मल आकाश'—आकाश निर्मल है। इसका अर्थ है कि आकाश बादलों से रहित है, निर्मल है। जो आकाश बादलों से व्याप्त है, रेत और धूल से व्याप्त है, वह निर्मल नहीं होगा। जो इन सबसे शून्य है वह निर्मल होता है। जिसमें हर्ष और शोक—दोनों नहीं हैं

मिला जाए ?" वेणीरामजी ने कहा—"दोनों दाल हैं। मिलाने में आपत्ति ही क्या है ? दाल-दाल एक ही होती है।' भिक्षु बोले—'माना कि दोनों दालें हैं। किन्तु रुग्ण मुनि के लिए यह मिश्रित दाल अभोज्य है। उसे केवल मूंग की दाल ही दी जा सकती है।' वेणीरामजी ने आवेश में आकर कहा—'जो हो गया सो हो गया।' आचार्य भिक्षु ने उपालम्भ दिया। वेणीरामजी जाकर सो गए। सब भोजन करने बैठे। आचार्य भिक्षु ने कहा—'वेणीराम नहीं आया ?' सन्तों ने कहा—'वे सो रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'वेणीराम ! दोष मेरे देख रहा है या अपने ?' यह सुनते ही वेणीरामजी आए और आचार्य भिक्षु के चरणों में पड़कर क्षमायाचना करने लगे।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आशा में निराशा जगा देते हैं और कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो निराशा में भी आशा के दीप जला देते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को नापने का छठा पैरामीटर है—निर्णय की शक्ति। व्यक्ति ठीक निर्णय लेता है या नहीं लेता ? व्यक्ति तत्काल निर्णय लेता है या नहीं लेता ? चिन्तन तो चलता है और निर्णय कुछ भी नहीं लिया जाता—इन सबके आधार पर मन के स्वास्थ्य का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान ने मानसिक स्वास्थ्य के परीक्षण के ये कुछ पैरामीटर, छह बिन्दु सुझाए हैं। हमने आध्यात्मिक दृष्टि मे समता के बिन्दुओं पर विचार किया और मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक स्वास्थ्य के बिन्दुओं पर विचार किया। इसका निष्कर्ष यह है कि जो व्यक्ति संतुलित जीवन जीता है, समता का जीवन जीता है, सहिष्णुता का जीवन जीता है, मन को आवेशों और दुश्चिन्ताओं की भट्ठी में नहीं झोंकता, वह व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। समता का बहुत बड़ा परिणाम है मानसिक स्वास्थ्य। जिस व्यक्ति ने समता का मूल्यांकन नहीं किया, उसने अपने मानसिक स्वास्थ्य को कभी भी संजोकर रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो व्यक्ति समता का अनुभव करता है, संतुलन का अनुभव करता है, वह व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को एक बहुत बड़ी धरोहर मानकर उसकी सुरक्षा करता है। समता का होना मानसिक स्वास्थ्य का होना है और मानसिक स्वास्थ्य का होना समता का होना है।

सात

प्रेक्षाध्यान की साधना के द्वारा दर्शन का नया अध्याय खुल रहा है। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं इसलिए उसकी विशेषताओं के साथ-साथ उसकी कमियां भी जानता हूं। दर्शन के प्रति मन में एक सम्मान का भाव है तो साथ-साथ उसके प्रति मन में अल्पता का भी भाव है और वह इसलिए है कि आज दर्शन की भूमिका कहां से कहां तक पहुंच गयी। जो दर्शन दर्शन-मूलक था, आज वह केवल तर्क-मूलक रह गया है। दर्शन का अर्थ है—देखना, साक्षात् करना। देखने की जो पद्धति है, साक्षात्कार की जो पद्धति है, उसका नाम है दर्शन। आज देखने की बात छूट गयी, साक्षात् करने की बात लुप्त हो गयी। आज केवल तार्किक नियमों के आधार पर दर्शन का समूचा प्रासाद खड़ा हुआ है। आज केवल तर्क है, अनुभूति नहीं। सब कुछ उधार ही उधार। अपना कुछ भी नहीं, स्व-अनुभव कुछ भी नहीं, केवल पर-अनुभव। प्रत्यक्षानुभूति कुछ भी नहीं, केवल परोक्षानुभूति। इसीलिए मध्ययुगीन दर्शन का विकास केवल अनुमान के आधार पर हुआ। जब प्रत्यक्ष का अनुभव नहीं हुआ तब अनुमान की शरण में जाना पड़ा और अनुमान के सहारे सत्य की खोज का दावा करना पड़ा। किन्तु क्या परोक्ष के आधार पर, व्याप्ति के आधार पर सत्य को खोजा जा सकता है? क्या इसके आधार पर सत्य उपलब्ध हो सकता है? क्या सूक्ष्म सत्य को तर्क के द्वारा जाना जा सकता है? कभी नहीं। यह संभव ही नहीं है। प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म चेतना के द्वारा खोजते थे। जब तक चेतना को सूक्ष्म नहीं किया जाता तब तक सूक्ष्म सत्य नहीं खोजा जा सकता। स्थूल चेतना से स्थूल सत्य ही पकड़ा जा सकता है। सूक्ष्म चेतना में दोनों शक्तियां होती हैं। वह सूक्ष्म सत्य को भी पकड़ सकती है और स्थूल सत्य को भी पकड़ सकती है। किन्तु स्थूल चेतना

आज दर्शन की विचित्र स्थिति है। आज विद्याओं की अनेक शाखाओं में दर्शन की दयनीय स्थिति है। जहां विज्ञान की शाखा में सैकड़ों विद्यार्थी मिल जाते हैं, वहां दर्शन के विद्यार्थी पांच-दस ही मिल पाते हैं।

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया दर्शन के पुनर्जागरण की प्रक्रिया है। यह दर्शन की प्रक्रिया है, देखने की प्रक्रिया है। पुराने जमाने के दार्शनिक ऋषि कहलाते थे। ऋषि का अर्थ है—द्रष्टा, देखने वाला। 'दर्शनात् ऋषिः'। जो देखने वाला होता है वह ऋषि कहलाता है। एक समय आया जब देखने वाले समाप्त होने लगे। तब देवताओं ने कहा—'अब हमारा सहारा कौन होगा ? ऋषि सब जा रहे हैं।' कहा गया अब ऋषियों के अभाव में तुम्हारा सहारा तर्क होगा। तब से तर्क का प्राबल्य हुआ।

दर्शन-मूलक दर्शन के द्वारा आत्मा उपलब्ध होती है, समन्वय सधता है, मैत्री उपलब्ध होती है। तर्क-मूलक दर्शन के द्वारा संघर्ष बढ़े हैं, विवाद और जय-पराजय की भावना बढ़ी है। मध्ययुगीन दार्शनिक ग्रन्थों में प्रत्येक दर्शन का तार्किकरूप उपलब्ध होता है। उनमें जय-पराजय की व्यवस्थित प्रक्रिया है। अपने पक्ष का समर्थन और पर-पक्ष का खंडन कैसे किया जाए, कौन-कौन से तर्क दिये जाएं, इसकी व्यवस्थित पद्धति निर्दिष्ट है। उनमें छल, जाति और वितण्डा का भी निर्देश है। वाद-विवाद में इनका प्रयोग भी स्वीकृत है, सम्मत है। यह मान्य कर लिया गया कि प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए यदि छल, जाति और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुचित नहीं है, उचित है। प्रतिपक्षी को हराने के लिए प्रत्येक दर्शन ने क्या-क्या विधान नहीं किए। उनमें शुद्ध दर्शन की बात छूट गयी। केवल जय-पराजय ही लक्ष्य बन गया। इसके फलस्वरूप विवाद बढ़े, मतभेद पड़े हो गए।

अनुभव के क्षेत्र दो नहीं हो सकते। इस क्षेत्र में चाहे 'क' जाए या 'ख' जाए, चाहे भारत का व्यक्ति जाए या यूरोप का व्यक्ति जाए। अनुभव में द्वैध नहीं हो सकता। इसमें काल का व्यवधान भी नहीं होता। आज भी वही अनुभव और दस हजार वर्ष पहले भी वही अनुभव। अनुभव में कोई अन्तर नहीं आता। एक ही परिणाम होगा। एक ही प्रकार की चेतना का जागरण होगा। कोई मतभेद नहीं हो सकता। धर्म और अध्यात्म में कोई द्वैत नहीं होता। सारा द्वैध सारा संघर्ष होता है तर्क-मूलक दर्शन में। आज हम दर्शन को पुन: दर्शन-मूलक बनाएं। वर्तमान के वैज्ञानिक विकास के बाद यह और प्रज्वलित अपेक्षा हो गयी है कि दर्शन का नया अध्याय खुले। यह अध्याय केवल ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। जब तक ध्यान की साधना के द्वारा अतिमानसिक चेतना का जागरण नहीं किया जा सकता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा मन को प्रशिक्षित नहीं किया जाता, जब तक ध्यान की साधना के द्वारा संवेदनशीलता को विकसित नहीं किया

में नहीं रहेगा। वहां दो साथियों का सम्बन्ध होता है मन और शरीर में। दोनों साथ-साथ काम करेंगे। दोनों साथ-साथ विश्राम करेंगे। मन काम करेगा तो शरीर भी काम करेगा। मन विश्राम करेगा तो शरीर भी विश्राम करेगा। दोनों का पूरा सामंजस्य होगा।

भावक्रिया मन को प्रशिक्षित करने का पहला सूत्र है। इससे मन पटु होता है, सूक्ष्म होता है, जिससे कि वह सूक्ष्म सत्यों को भी पकड़ सके।

मन को प्रशिक्षित करने का दूसरा सूत्र है—कल्पनाशक्ति का विकास, संकल्प या इच्छाशक्ति का विकास। मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए कि वह स्पष्ट चित्र बना सके। कल्पनाशक्ति के द्वारा चित्र का निर्माण और संकल्पशक्ति के द्वारा उस चित्र की उपलब्धि। हमारी जो भावना होती है उसको हम अपने सुझावों के द्वारा इच्छाशक्ति के रूप में बदल देते हैं और फिर इच्छाशक्ति के द्वारा जहां पहुंचना चाहते हैं वहां पहुंच जाते हैं। जो होना चाहते हैं वह हो जाते हैं। जिस दिशा में हम चलना चाहते हैं, उस दिशा में स्वयं प्रस्थित हो जाते हैं।

मन को प्रशिक्षित करने का तीसरा सूत्र है—एकाग्रता। मन का सहज स्वभाव है चंचलता। वह कहीं एक स्थान पर नहीं टिकता। कहीं न टिकना, चंचल बना रहना, यह मन की अपनी सहज प्रकृति है। यदि वह स्थिर हो जाता है तो मानना चाहिए वह अपनी प्रकृति से ऊपर उठ गया है। मन की तुलना पारे से की जा सकती है। पारा सहज चंचल होता है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता। मन भी सहज चंचल है। उसे पकड़ा नहीं जा सकता। हजारों वर्षों से यह प्रश्न चर्चित होता रहा है कि मन को कैसे पकड़ा जाए। मनुष्य उद्यमशील है। उसने अनेक गूढ़ सत्य खोज निकाले हैं। पारा चंचल है, पर आदमी ने उसको गोलियां बांध दी। अब उसे पकड़ा जा सकता है। पारे की गोली हो सकती है तो मन की गोली क्यों नहीं हो सकती? जब पारा बांधा जा सकता है तो मन को क्यों नहीं बांधा जा सकता? वह भी बंध सकता है। विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा पारा बंध सकता है। वैसे ही ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा मन बांधा जा सकता है।

मन को बांधने की एक प्रक्रिया है—एकाग्रता। मन को ऐसा अभ्यस्त करना चाहिए कि वह एक स्थान पर टिक सके, एक ध्येय पर टिक सके। जब मन एक विषय पर तीन घंटा टिक जाता है तब मन की असंख्य शक्तियां जागृत हो जाती हैं। तीन घंटा टिका पाना सहज नहीं है। बहुत अभ्यास और धृति की अपेक्षा होती है। यदि मन एक घंटा भी टिक जाता है तो साधक स्वयं अनुभव कर सकता है कि भीतर कितना विस्फोट हो रहा है। कितनी शक्तियां जाग रही हैं। एक घंटा स्थिर रहना बहुत दूर की बात है, यदि कोई व्यक्ति ५-१० मिनट एक विषय पर स्थिर रह सकता है तो वह अनुभव कर सकता है कि शरीर में शक्ति और

भीतर मन को ले जाकर भीतरी भाग को देखते हैं। शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पंदनों को देखते हैं। शरीर के भीतर जो कुछ है उसे देखने का प्रयत्न करते हैं। शरीर के भीतर यह सब कुछ है जो इस संसार में है। ऐसा क्या तत्त्व है जो संसार में हो और इस शरीर में न हो। यह शरीर समूचे संसार का प्रतिनिधित्व करता है। हम इस शरीर को प्रेक्षा करते हैं, मन को देखने का प्रशिक्षण देते हैं। आप यह मानें कि हमारा मन वही है जो मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है। मन भी बहुत भागों में बटा हुआ है। हमारी चेतना भी बहुत भागों में बटी हुई है। एक है—इन्द्रिय स्तरीय चेतना और दूसरी है—कोषस्तरीय चेतना। हमारे शरीर के जितने सेल्स हैं, जितने कोष हैं, उन सबके साथ अपना मस्तिष्क भी है। वह मस्तिष्कीय चेतना, कोषीय चेतना, जो हर कोष के पास है, उसे भी हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते हैं। समूचे शरीर को देखने का अर्थ है—चेतना के जो कोष सोये हुए है, कुंठित हैं, उन्हें जगाना। उनकी मूर्च्छा टूट जाए, यह अपेक्षित है। चैतन्य का कण-कण जाग उठे। चैतन्य मूर्च्छा से मुक्त हो जाए। शरीर का प्रत्येक अवयव मूर्च्छा से ग्रस्त है। उस मूर्च्छा को तोड़ने का हमने कभी प्रयत्न ही नहीं किया। यदि ठीक प्रयत्न हो तो कोई कारण नहीं कि शरीर का कण-कण मन की शक्ति का स्वागत न करे, उसे स्वीकार न करे। शरीर का प्रत्येक कण मन के निर्देश को स्वीकार करने के लिए तत्पर है कि वह जाग जाए और मन के साथ उसका सम्बन्ध-सूत्र जुड़ जाए। किन्तु जब जगाने का प्रयत्न नहीं होता तब वे मूर्च्छा में रह जाते हैं और ऐसी स्थिति में मन का निर्देश उन तक पहुंच ही नहीं पाता। वे निष्क्रिय ही बने रह जाते हैं।

शरीर के स्तर पर शरीर के कोष जागृत है और वे बराबर अपना काम करते हैं। हमारी नाड़ी-संस्थान में जितने ज्ञानवाही और क्रियावाही तन्तु हैं, वे शरीर-संचालन के क्षेत्र में अपना काम पूरा करते हैं। पैर में कांटा चुभा। तत्काल मस्तिष्क या पृष्ठरज्जु में संदेश पहुंचेगा। वहां से निर्देश मिलेगा। मांस-पेशियां सक्रिय हो जाएंगी और हाथ कांटा निकालने के लिए आगे बढ़ जाएगा। यह काम इतनी शीघ्रता से सम्पन्न होता है कि हमें पता ही नहीं चलता। संदेश प्रेषण की सारी प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती है और कार्य निष्पन्न हो जाता है। यह इसलिए होता है कि सारे ज्ञानतन्तु और क्रियातन्तु जागृत हैं।

किन्तु सूक्ष्म सत्यों को जानने के लिए जिन ज्ञानतन्तुओं को जागृत होना चाहिए, वे अभी सोये हुए हैं। इसलिए चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा का बार-बार अभ्यास करते हैं जिससे कि मूर्च्छित ज्ञानतंतु सक्रिय हो जाए, वे जाग उठे। इनके जागने से सूक्ष्म सत्यों को देखने की अतीन्द्रिय चेतना विकसित हो जाती है। तब सूक्ष्म सत्यों के साथ सम्पर्क स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं रहती।

प्रेक्षाध्यान के द्वारा केवल अपने शरीर को या शरीर की भिन्न-भिन्न

८. चेतना का प्रस्थान : अज्ञात की दिशा

- विकास का आधार—सत्य की खोज और सत्य का अनुशीलन।
- बदलने वाला बदले, न बदलने वाला न बदले।
- मन पर जमने वाले मलों का संशोधन।
- स्वभाव-परिवर्तन।
- मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन।
- ऐसे निर्जन द्वीप की खोज जहां शक्ति का व्यय कम हो, नयी शक्ति का संचय हो।
- शक्ति व्यय का हेतु—
  - निरन्तर गतिशीलता।
  - अतिरिक्त प्रवृत्ति।
  - बुरे कर्म व बुरे विचार।
  - विचार और संवेदन का अनियन्त्रण।
- शक्ति का उपयोग करें। उपयोग न होने पर वह व्यर्थ है।
- शक्ति के उपयोग की सही दिशा—
  - स्वयं को जान सकें, स्वयं को पा सकें।

आधार ही है—सत्य की खोज। यदि सत्य की खोज नहीं होती तो मनुष्य का विकास नहीं होता। पशु का इसीलिए विकास नहीं होता कि वह सत्य की खोज में प्रस्थित नहीं है। हजार वर्ष पहले भी वह बैलगाड़ी में जुतता था और आज भी वह गाड़ी में जुतता है। उसका कोई विकास नहीं हुआ है। मनुष्य ने न जाने हजार वर्षों में कितना विकास किया है, कितने नए आयाम खोले हैं। यह सब इसी आधार पर हुआ कि मानवीय चेतना में विकास की क्षमता है और वह सदा सत्य की खोज करता रहता है। मनुष्य जैसे-जैसे सत्य की खोज करता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है और उपयोगिता का क्षेत्र भी विकसित होता है। साथ-साथ उसकी क्षमताएं भी बढती हैं।

मनुष्य कुछ ज्ञात करता है। उसमें से कुछ ज्ञात ज्ञेय के रूप में ही रहता है और कुछ ज्ञात उपयोगिता में बदल जाता है, उपादेय बन जाता है। साधना का प्रसंग, प्रेक्षाध्यान का अभ्यास, अज्ञात को खोजने का प्रयत्न करना है। हमारी यह कहीं न रुकने वाली अनवरत यात्रा सत्य की खोज की दिशा में सतत अग्रसर होने वाली यात्रा है। इस यात्रा के फलस्वरूप जो ज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है और जो अज्ञात है वह भी उपलब्ध होता है। सबसे बड़ा सूत्र जो उपलब्ध होता है, वह यह है कि इस दुनिया में कुछ ऐसा है जो बदला जा सकता है और कुछ ऐसा भी है जो नहीं बदला जा सकता। जो बदला जा सकता है, उसे बदलना चाहिए और जो नहीं बदला जा सकता उसे नहीं बदलना चाहिए। जब यह सचाई स्पष्ट हो जाती है तो अगला चरण यह होता है कि जो बदलने योग्य है उसे बदल देना चाहिए। साधना का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, बदलने जैसा है, उसे बदल ही देना चाहिए। यथावत् वही रह सकता है जो शाश्वत है। अशाश्वत कभी यथावत् नहीं रह सकता।

हम बदलते हैं साधना के माध्यम से। सबसे पहले उसे बदलते हैं जो निरंतर हमें बदलता रहता है। श्वास हमारे जीवन को निरंतर बदलता रहता है। सबसे पहले हम उस श्वास को बदलने का प्रयत्न करते हैं। यह बहुत बड़ी सचाई है कि जब तक श्वास की गतिविधि को नहीं बदला जाता, तब तक साधना में विकास नहीं किया जा सकता, तब तक अज्ञात की दिशा में लम्बी यात्रा नहीं की जा सकती। अज्ञात की दिशा में लम्बी यात्रा करने के लिए प्राणशक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राणशक्ति के लिए श्वास का ईंधन चाहिए। श्वास का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राणशक्ति उतनी ही सशक्त होगी। प्राणशक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी यात्रा उतनी ही निर्विघ्न होगी। इसलिए श्वास की गतिविधि को बदलना जरूरी है।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को बदलता है। जो श्वास छोटा होता है, उसको लम्बा बना देता है, गति में दीर्घता आ

मानें कि दीर्घश्वास केवल प्राणायाम ही नहीं है, वह उससे आगे भी है। हम दीर्घश्वास को प्राणायाम की दृष्टि से नहीं ले रहे हैं। हम दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं। उसका मूल उपयोग है—वृत्तियों का शमन, उत्तेजनाओं का शमन और वासनाओं का शमन। इसके साथ-साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी होते हैं।

साधना का दूसरा काम है—शरीर की दिशा का परिवर्तन। जब श्वास की दिशा बदलती है तब शरीर की दिशा अपने-आप बदलने लग जाती है। हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा शरीर की दिशा को भी बदल सकते हैं। शरीर में भी बीमारियां तब आती हैं जब शरीर के चैतन्य-कण मूच्छित हो जाते हैं। शरीर के चैतन्य-कण जब मूर्च्छा और सुषुप्ति की अवस्था में होते हैं तब बीमारियां आती हैं। यदि सारा चैतन्य जाग उठे, शरीर के कण-कण में रहा हुआ चैतन्य जाग उठे, मूर्च्छा टूट जाए, सुषुप्ति मिट जाए तब विकारों और उत्तेजनाओं को आने का अवकाश ही नहीं रहता। शरीर प्रेक्षा के द्वारा हम शरीर की समूची क्रिया को बदल डालते हैं, दिशा को बदल डालते हैं। ज्ञानतन्तुओं को इतना सक्रिय और सक्षम बना डालते हैं की जिससे वह हर स्थिति का सामना कर सकता है। जब हमारी जीवनीशक्ति पर सबसे बड़ा आघात होता है तब प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है। आज का आदमी तेज दवाइयां खा खाकर अपनी जीवनीशक्ति को या प्रतिरोधात्मक शक्ति को कमजोर कर डालता है। ध्यान प्रतिरोधात्मक शक्ति को बनाए रखने का अचूक उपाय है। साधक ध्यान के द्वारा ज्ञानतन्तुओं और शारीरिक तन्तुओं को सक्रिय बनाकर जीवनीशक्ति को बढ़ा सकता है। ध्यान का अभ्यास न चले, आदमी तेज दवाइयां लेता रहे, जीवनीशक्ति का क्षय करता चले, जीवनीशक्ति के लिए उपयोगी कीटाणुओं को नष्ट करता चले तो एक ओर से होने वाला क्षय उसे न जाने कहां नीचे ले जाकर पटकता है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रेक्षाध्यान के द्वारा हम शरीर की दिशा को बदलें, मन की दिशा को बदलें, मन की आदतों और स्वभाव को बदलें। आदमी मान लेता है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। कोई आवेशपूर्ण बात कहता है तो प्रत्युत्तर में ईंट का जवाब पत्थर से न दे तो वह फिर आदमी ही क्या! इतना कहा-सुना और प्रतिक्रिया नहीं हुई तो लोग यही समझेंगे कि यह तो कोई मिट्टी का लोंदा है। आदमी में कुछ होता तो प्रतिक्रिया अवश्य होती और वह ऐसा करता कि सामने वाला दब जाए। ऐसी मनःस्थिति प्रायः सभी मनुष्यों की होती है। क्रिया की तत्काल प्रतिक्रिया करने में आदमी रस लेता है। मानो कि वह उसका स्वभाव ही बन गया हो। बचपन से ही ऐसा स्वभाव डाल दिया जाता है। बच्चा पैसा मांगता है। जब उसे पैसा मिल जाता है तब वह खिल उठता है और जब नहीं मिलता तब वह रोने लग जाता है। यह प्रतिक्रिया की आदत प्रारंभ में ही पड़

[illegible]

[illegible]

मानवीय सम्बन्धों में सबसे बड़ी कठिनाई है — विषमता और कठोरता। पहली कठिनाई है — विषमता। किसी की दृष्टि गुणों के प्रति सम नहीं होती, सारा [illegible] की दृष्टि गुणियों के प्रति सम नहीं होती, तब सम्बन्धों में विकृति आने लग जाती है। सामाजिक व्यवस्था में जहां-जहां विषमता है वहां-वहां उलझनों का होना अनिवार्य है और उलझन न हो तो मानना चाहिए कि विषमता में जीने वाले अज्ञानी लोग हैं। जहां सामाजिक स्थिति विषमतापूर्ण हो उस सामाजिक स्थिति में समान ज्ञान वाले लोग विद्रोह न करें तो मानना चाहिए कि वे मूर्च्छित हैं, सोए हुए हैं। यदि लोग जागे हुए हों तो विषमता के प्रति विद्रोह की आग न धधके, यह कभी नहीं हो सकता। विषमता के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है और विद्रोह न हो तो एक बहुत बड़ा आश्चर्य है। दो बहनें साथ चलें और बात न करें तो यह आश्चर्य हो सकता है, बात करना कोई आश्चर्य नहीं है।

आचरण की, व्यवहार की, मानवीय सम्बन्धों की सबसे बड़ी समस्या है विषमता की। विषमता यदि परिवार में हो तो परिवार सुखी नहीं हो सकता। विषमता यदि समाज में हो तो समाज सुखी नहीं हो सकता।

मानवीय सम्बन्धों की दूसरी कठिनाई है — कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से बड़े व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पड़ता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पड़ती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर बड़े का बड़प्पन ही कैसे सुरक्षित रह सकता है? यह धारणा रूढ़ हो गयी है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु बराबर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने में गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? उसको तो दो-चार गालियां ही दी जानी चाहिए। इस धारणा ने सारे व्यवहार को अव्यवस्थित कर डाला है। आज सर्वत्र यह धारणा ही बन गयी कि छोटे के साथ तो कठोर व्यवहार ही करना चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरों के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी? इस प्रकार की धारणाओं ने सामाजिक सम्पर्कों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय

का परिवर्तन तब घटित हो सकता है जब प्रतिदिन हमारे मन पर जमने वाले मलों का शोधन होता रहे। प्रतिदिन मल जमता रहता है। पसीना आता है, शरीर पर मैल जम जाता है। धूल उड़ती है, शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं। आदमी इनके मैल को पानी से धो डालता है। किन्तु वह इस ओर ध्यान ही नहीं देता कि मन पर प्रतिपल कितना मैल जमता जाता है। उस मैल को हटाने की वह नहीं सोचता। कितने आश्चर्य की बात है। जब तक इस मैल को नहीं धोया जाता तब तक स्वभाव का परिवर्तन या मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन करने की कल्पना केवल कल्पना मात्र ही रह जाती है। कुछ भी यथार्थ घटित नहीं हो सकता। यह चिंतन केवल दुश्चिंतन और तर्कणा केवल तर्कणा रह जाती है। कोई परिणाम नहीं आ सकता। सबके मूल में है शोधन। प्रेक्षाध्यान के साथ-साथ हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण करें। प्रतिक्रमण अर्थात् जो दिन में या रात में मैल जमा हो उसे धोकर साफ कर डालें। ऐसा प्रयत्न करें कि मैल जमे ही नहीं। अनुप्रेक्षा से यह काम सरल हो जाता है। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ता है और मन निर्मल होता जाता है।

मन पर मैल जमता है पदार्थों के द्वारा। पदार्थ अनित्य हैं, अशाश्वत हैं। आदमी उनको नित्य और शाश्वत मान लेता है। इससे मूर्च्छा पलती है। इतना लगाव हो जाता है पदार्थ से कि एक सूई भी खो जाए तो मन खो जाए। पदार्थ के वियोग से मन बेचैन हो जाता है। काच का एक प्याला भी टूट जाए तो मन बेचैन हो जाता है। नींद हराम हो जाती है। अनित्य को हमने इतना नित्य मान लिया कि मानो वह कभी भी बिछुड़ने वाला नहीं है। पदार्थों के प्रति जो नित्यता की बुद्धि है, उससे मैल जमता है।

परिवार एक सचाई है, किन्तु आदमी अपने आप को उससे अभिन्न मान लेता है। 'मैं और मेरा परिवार एक है'—यह मान्यता बन जाती है। जब तक व्यक्ति परिवार के स्वार्थों का पोषण करता है तब तक परिवार वाले उसको अलग नहीं मानते और वह भी परिवार से अपने को अलग नहीं मानता। किन्तु यह सचाई सब खंडित हो जाती है जब व्यक्ति के द्वारा होने वाला स्वार्थ का पोषण टूट जाता है। उस दिन पता चलता है कि परिवार व्यक्ति के प्रति क्या है और व्यक्ति परिवार के प्रति क्या है? फिर एक साथ इतना अनुताप उभरता है, इतना दुःख होता है कि व्यक्ति का मन टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है। वह सोचता है—जिस परिवार के लिए मैंने इतना काम किया, इतने कष्ट सहे, यह किया, वह किया और वही परिवार आज मेरे से आज तक नहीं मिलाता। उसे अत्यन्त दुःखद अनुभूति होती है। मन मैला हो जाता है। उस पर मैल की परतें जमती जाती हैं। उसके लिए दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। हम इस सचाई को स्वीकार चलें कि पारिवारिक सम्बन्ध, मित्रों और साथियों के सम्बन्ध वास्तविक

इतने संवेदनशील बन जाते हैं कि थोड़े से अपराध पर वे शाप दे देते हैं और थोड़े से प्रसन्न होने पर वरदान दे देते हैं। सिद्धि का यह एक स्तर है। जिन्हें चमत्कार प्रदर्शित करना है, जिन्हें प्रशंसा पानी है, उनके लिए यह स्तर ठीक है किन्तु जिन लोगों को मूलतः अपने को बदलना है, कषाय को बदलना है, आत्मा को उपलब्ध होना है; उनकी दिशा दूसरी होगी। उनकी सिद्धियां भी दूसरे प्रकार की होंगी।

सिद्धियों का दूसरा स्तर है—चेतना का जागरण, मति-श्रुत ज्ञान से लेकर कैवल्य तक का जागरण। मति-श्रुत की पटुता का विकास, अतीन्द्रिय का विकास, कैवल्य चेतना का विकास—यह भी सिद्धि का एक स्तर है। पूछा जा सकता है कि पांच वर्ष के ध्यान के अभ्यास से चेतना की निर्मलता कितनी बढ़ी? ज्ञान कितना विकसित हुआ? अनुभव में कितनी वृद्धि हुई? यह चेतना के जागरण का स्तर है।

सिद्धि का तीसरा स्तर है—मूर्च्छा की समाप्ति, कषाय की समाप्ति। जिस व्यक्ति की मूर्च्छा कम हो जाती है, कषाय नष्ट हो जाते हैं, वह इस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। जब यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब चेतना की निर्मलता अपने-आप बढ़ती जाती है।

हमारी साधना के दो मुख्य उद्देश्य हैं—कषाय की शान्ति और चेतना की निर्मलता। ये दो महान् सिद्धियां हैं। चमत्कार की सिद्धि भी एक प्रकार की सिद्धि है। उसे मैं सर्वथा निकम्मी नहीं समझता। किन्तु वह हमारा ध्येय नहीं है। जिसे कषाय-शमन की सिद्धि उपलब्ध है; जिसे चेतना के जागरण की सिद्धि उपलब्ध है, उस व्यक्ति को अणिमा, लघिमा, महिमा आदि ऋद्धियां प्राप्त होंगी तो उनका उपयोग भी उसी दिशा में होगा; चमत्कार की दिशा में नहीं होगा।

हम प्रेक्षाध्यान के द्वारा जो पाना चाहते हैं, जो सिद्ध करना चाहते हैं, जो साधना चाहते हैं, उसे साधें। इतना सब कुछ होता है तो फिर नए वातायन में बैठकर प्रेक्षाध्यान को समझने का मौका मिलता है, देखने का मौका मिलता है। ध्यान का अर्थ क्या है, मूल्य क्या है—इसे समझा जा सकता है।

नहीं मिटी है। इस शारीरिक चंचलता के कारण वह केवली दूसरी बार उसी आकाश प्रदेश पर हाथ नहीं रख सकता। कुछ न कुछ अन्तर आ जाएगा। आकाश प्रदेश बदल जाएंगे। इस प्रकार केवली भी तरंगातीत स्थिति में नहीं है। हम यह कभी कल्पना न करें कि दो चार घंटे की ध्यान की स्थिति में तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। जब व्यक्ति शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है, चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है, अयोगी बन जाता है, तब उसे तरंगातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह मोक्ष की निकटस्थ अवस्था है। आत्मा वैभाविक पर्यायों में सर्वथा मुक्त होकर अप्रकम्प बन जाता है। अप्रकम्प दशा की यात्रा हमारा लक्ष्य है। यह लंबी यात्रा है। इस दशा तक हमें पहुंचना है। ध्यान उसका माध्यम है। हम तरंगों में जी रहे हैं। ध्यानकाल में भी तरंगें आती हैं, विकल्प उठते हैं। इसमें निराश या खिन्न नहीं होना है। यदि दो-चार क्षणों तक भी तरंग न आए, विकल्प न उठें तो यह तरंगातीत अवस्था की क्षणिक प्राप्ति है। यह भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हम तरंगों के घेरे में बैठे हैं, तरंगों में जी रहे हैं, तरंगों में श्वास ले रहे हैं। इस तरंगित जगत् में यदि २-४ मिनिट भी निस्तरंग का अनुभव करते हैं तो यह दूसरी दिशा की ओर प्रस्थान है।

इस जगत् में जीने वाले गुरुत्वाकर्षण के घेरे में बंधे होते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी अभ्यास के द्वारा गुरुत्वाकर्षण से हटकर हल्केपन का अनुभव करता है तो मानना चाहिए कि वह एक नयी यात्रा पर चल रहा है।

तीन स्थितियां हैं—१. बुरे विचार २. अच्छे विचार और ३. निर्विचार। कर्म को भी हम तीन भागों में बांट सकते हैं—बुरा कर्म, अच्छा कर्म और अकर्म। "बुरे विचार" भी एक तरंग है और "अच्छे विचार" भी तरंग है। दोनों तरंग हैं। दोनों में, तरंग की दृष्टि से, कोई अन्तर नहीं है। किन्तु एक तरंग और दूसरी तरंग में बहुत बड़ा अन्तर होता है। सामान्य आदमी यह मानता है कि इस जगत् में रंग है, रूप है, ध्वनियां हैं, ताप है, सब कुछ है। किन्तु एक वैज्ञानिक इस भाषा में नहीं सोचेगा। वैज्ञानिक के लिए यह दुनिया न रंगमय है, न रूपमय है, न ध्वनिमय है, न तापमय है। उसके लिए यह जगत् [illegible] और विद्युत् का [illegible] है। सब कुछ विद्युन्मय है। ऐसी स्थिति में अच्छा सोचना भी विद्युत् की तरंग है और बुरा सोचना भी विद्युत् की तरंग है। [illegible] सब कुछ विद्युत् की तरंग है। यदि हम निस्तरंग की ओर बढ़ना चाहते हैं, तरंगातीत स्थिति में जाना चाहते हैं तो उसकी यही प्रक्रिया होगी कि [illegible] बुरी तरंग को समाप्त कर अच्छी तरंग का निर्माण करें। अच्छी तरंग का निर्माण किए बिना बुरी तरंग को समाप्त नहीं किया जा सकता। [illegible] तरंगातीत स्थिति में [illegible] अच्छे विचार से [illegible] बढ़ा जा सकता है। [illegible] अच्छे विचार [illegible] तरंगातीत [illegible]

होगा। हम एक ऐसे कवच का निर्माण करें जिसको भेद कर बुरे विचार न आ पाए। वे बाहर ही रह जाए। हमारे मस्तिष्क में न आए। यदि शुक्ल लेश्या के द्वारा हम एक शक्तिशाली कवच बना लेते है तो बाहर के खतरे से बच जाते हैं। यदि हम तैजस और पद्म लेश्या का कवच बना लेते हैं तो भीतर से उठने वाले बुरे विचारों के आक्रमण से बच जाते है। इसके बाद अच्छे विचारों की तरगें पैदा होने लग जाती हैं और ये तरगें बहुत सहयोगी बनती हैं। ये हमारी अध्यात्म यात्रा में आगे बढ़ने मे सहयोग करती हैं और निरतर हमारा साथ देती है। बाधा नही डालती।

लेश्या ध्यान का बहुत बडा महत्त्व है। निस्तरग तक पहुचने के लिए लेश्या ध्यान आवश्यक है। यद्यपि लेश्या स्वय तरग है किन्तु निस्तरग की दिशा मे प्रस्थान के लिए लेश्या ध्यान बहुत सहयोग करता है। हम इसका उचित मूल्यांकन करें।

हम श्वास-प्रेक्षा के द्वारा अपने श्वास पर नियत्रण करते हैं। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के स्पदनों को देखते हैं, उनके अनित्य स्वभाव को देखते हैं, अनित्य अनुप्रेक्षा मे उतरते हैं। फिर हम अनित्य से परे किसी नित्य की खोज के लिए प्रस्थान करते हैं। हमारी यात्रा और आगे बढ़ती है। हम चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा के द्वारा उस नए आयाम का उद्घाटन करते हैं जो चैतन्य-केन्द्रों के माध्यम से कभी-कभी अपना प्रकाश डालता है।

हमारे शरीर मे तरगातीत आत्मा की अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्थान हैं— एक मस्तिष्क और दूसरा चैतन्य-केन्द्र। ये दो महत्त्वपूर्ण द्वार हैं जिनके माध्यम से भीतर मे छिपी हुई ज्योति कभी-कभी बाहर भी अपना प्रकाश डालती है। वह ज्योति भीतर ही छिपी रहती है, फिर भी उसकी कुछ रश्मिया हम तक पहुच जाती हैं। जो साधक चैतन्य-केन्द्रो पर ध्यान करता है, वह उस ज्योति को अनायास ही उपलब्ध हो जाता है। जब एक बार भी वह उसे उपलब्ध हो जाता है तब चाहे कितनी ही तरगें उसे घेरे रहे, कितनी ही बाधाए डालें, वह कभी विचलित नही होता। जो एक बार भी तरगातीत अवस्था का अनुभव कर लेता है वह अनुभव कभी समाप्त नही होता। जिसे एक बार सम्यक् दर्शन उपलब्ध हो गया, फिर उसके विकास को कोई नही रोक सकता। थोडी बहुत बाधा डाली जा सकती है, पर उसके आगे बढ़ने वाले चरणों को नही रोक सकता। अनुप्रेक्षा के द्वारा हम वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानें। पदार्थ के अयथार्थ स्वरूप का बोध मूर्च्छा ही मूर्च्छा पैदा कर रहा है और मूर्च्छा का जाल इतना सघन हो जाता है कि हम उसके पार देख ही नही पाते। अनुप्रेक्षा के द्वारा ही इस मूर्च्छा के चक्रव्यूह को तोड़ा जा सकता है।

तरगातीत अवस्था को प्राप्त करने के

अध्यात्म और व्यवहार

अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई भी नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है वह व्यवहार करता है। व्यवहार के बिना वह जी नहीं सकता, उसका जीवन चल नहीं सकता। किन्तु दोनों का व्यवहार बहुत भिन्न होता है। आचारांग सूत्र का कथन है कि आध्यात्मिक व्यक्ति को अन्यथा व्यवहार करना चाहिए। अन्यथा व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला जैसा व्यवहार करता है, वैसा व्यवहार अध्यात्म की भूमिका पर जीने वाले को नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे भिन्न प्रकार से व्यवहार करना चाहिए, अन्यथा व्यवहार करना चाहिए।

हम 'अन्यथा' शब्द को समझें। इसके तात्पर्य को समझें। व्यावहारिक व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नहीं होता, वह प्रतिक्रियात्मक होता है। वह सोचता है—उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया तो मैं भी उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करूँ। यह क्रियात्मक व्यवहार नहीं, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। ऐसे व्यक्ति में कर्तव्य की स्वतंत्र प्रेरणा नहीं होती और कर्तव्य का स्वतंत्र मूल्य भी नहीं होता। उसका कर्तव्य स्व-संकल्प से प्रेरित नहीं होता, वह होता है दूसरों से प्रेरित।

वर्तमान के आचारशास्त्रियों और दार्शनिकों ने कर्तव्य के मूल्य की मीमांसा में इस प्रश्न पर बहुत चर्चा की है कि हमारे कर्तव्य की प्रेरणा और हमारे कर्तव्य का स्वरूप क्या होना चाहिए? प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने कहा 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य होना चाहिए, न दया के लिए, न अनुकम्पा के लिए और न दूसरों का भला करने के लिए। ये सब नैतिक कर्म के हेतु नहीं हैं और इनसे

तुम उससे क्षमा-याचना कर लो।'

श्रमण ने पूछा—'भंते ! मुझे ऐसा क्यों करना चाहिए ?'

आचार्य ने कहा—'उवसमसारं खु सामण्णं'—श्रामण्य का सार है—उपशम, शांति।' यह दूसरा श्रमण तुम्हें आदर दे या न दे, तुम्हारी ओर देखे या न देखे, तुम्हारे से क्षमायाचना करे या न करे, तुम जाओ और क्षमायाचना कर लो। यह इसलिए करो कि यह तुम्हारे श्रामण्य का धर्म है, श्रामण्य की मांग है। तुम्हें ऐसा करना ही चाहिए।'

यह है क्रियात्मक व्यवहार। आध्यात्मिक व्यक्ति यह अपेक्षा नहीं रखता कि सामने वाला व्यक्ति क्या करता है। वह यह सोचता है कि मेरा धर्म क्या कहता है ? धर्म की दृष्टि से मुझे क्या करना है ? यह है अन्यथा व्यवहार का पहला लक्षण।

जिस व्यक्ति का व्यवहार क्रियात्मक नहीं होता उसका प्रत्येक आचरण असंतुलित रहता है। संतुलन का अर्थ है—न इधर झुकाव, न उधर झुकाव। न पक्षपात, न राग, न द्वेष, न प्रियता और न अप्रियता। पूरा संतुलन। तराजू के दोनों पलड़े समान। कोई भी झुका हुआ नहीं।

उपनिषद् की एक कथा है। जाजली नाम के एक ऋषि घोर तप तप रहे थे। उनकी जटाएं बढ़ गयीं। वे निश्चल खड़े थे। पक्षियों ने उनकी जटा में घोंसले बना दिए। उन्होंने अंडे दिए। अंडों से बच्चे निकले और वयस्क होकर उड़ गए। तब ऋषि ज्यों के त्यों खड़े रहे। तप के साथ-साथ अहं भी बढ़ता गया। मैंने कितना विकट तप तपा है ? यह भाव अहं को वृद्धिगत करता है। प्रभुता पास हो और अहंकार न हो, यह कब होता है ? ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास [प्रभु]ता है और अहं नहीं है ? ज्ञान का, सत्ता का, संपत्ति का, शक्ति का और [तपस्]या का अहंकार होता है। तप का भी अहंकार होता है। तपस्वी का अहं पुष्ट [हो]ता जा रहा था। एक दिन देववाणी हुयी—'जाजली ! अभी तक तुम सधे नहीं [हो।] तुम तुलाधर वैश्य के पास जाकर सीखो।' यह सुनते ही ऋषि का मन [...]ना गया। अहं पर गहरी चोट लगी। देववाणी के प्रति वह नत था। वह [...]कुछ ननु नच किए तुलाधर वैश्य के पास आया। उसने देखा कि वैश्य तुला-[धर] [...] दूकान में बैठा है। ग्राहक आ रहे हैं, जा रहे हैं। तुलाधर तराजू से तोलता [...]है। कोई साधना नहीं, कोई ध्यान नहीं, कोई स्वाध्याय नहीं, कोई तपस्या [...]है केवल तराजू से तोल रहा है। इतना-सा ध्यान दे रहा है कि दोनों पलड़े [...]हें, कोई भी झुका हुआ न हो। सांझ हुई। तुलाधर वैश्य दूकान बंद करने [...]र पास में जाकर बोले—"भाई ! क्या तुम्हारा नाम तुलाधर है ?"

"हां।" जाजली ! आए हो तुम ! कहो—किसलिए आए हो ?"

"मैं तुम्हारी साधना जानने के लिए आया हूं। तुम्हारी साधना का मर्म क्या

प्रेक्षाध्यान : मानसिक प्रशिक्षण के पांच सूत्र

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो, स्वयं स्वयं को देखो—यह प्रेक्षाध्यान का मूल सूत्र है।

भगवान् महावीर की ध्यान-पद्धति दर्शन की पद्धति है। हमारी आत्मा और शरीर तत्वतः भिन्न होते हुए भी व्यवहार के धरातल पर भिन्न नहीं हैं। श्वास, शरीर, वाणी और मन—ये सब प्राणशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। प्राणशक्ति सूक्ष्म शरीर (तैजस शरीर) का विकिरण है। सूक्ष्म शरीर अतिसूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) द्वारा संचालित होता है। अति सूक्ष्म शरीर आत्मा द्वारा संचालित होता है। इसलिए श्वास, शरीर, प्राण और कर्म के स्पंदनों को देखना आत्मा को देखना है।

अपने-आप को देखने का पहला सूत्र है—कायोत्सर्ग। हम शरीर की सक्रियता का मूल्य जानते हैं। उसकी निष्क्रियता का मूल्य नहीं जानते, इसीलिए हम मांसपेशीय तनाव के शिकार होते हैं। इस तनाव से बचने का उपाय है—शरीर की चंचलता का विसर्जन। शरीर शान्त होता है, तब श्वास मंद हो जाता है, मन की चंचलता कम हो जाती है। कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक मूल्य है—अन्तर् की अनुभूति और उसका मानसिक मूल्य है—मानसिक तनाव और मनोकायिक रोगों से छुटकारा।

अपने आप को देखने का दूसरा सूत्र है—अप्रमाद। उसका एक रूप है—जागरूकता—सत्य और संयम के प्रति जागृत मनोभाव। उसका दूसरा रूप है—भावक्रिया—शरीर के कर्म और मन का सामंजस्य।

मिथ्यादृष्टि और असंयम या इन्द्रिय-लोलुपता से हमारी चेतना सुषुप्त हो जाती है। सुषुप्त चेतना में दुःख-बीज अंकुरित होते हैं

वाणी के प्रकम्पन, मन के प्रकम्पन और श्वास के प्रकम्पन। सूक्ष्म प्राण का प्रयोग कर प्रकम्पन बढ़ाए जा सकते हैं। प्राण का निरोध कर वे घटाए जा सकते हैं, रोके जा सकते हैं। भावना के द्वारा विरोधी प्रकम्पन पैदा किए जा सकते हैं। प्रेक्षाध्यान में सविकल्प या आलंबन और निर्विकल्प दशा दोनों का उपयोग किया जाता है। श्वास की गति और प्रकम्पनों के बदलने पर दृष्टि बदल जाती है। श्वास और शारीरिक प्रकम्पनों को सधाने और लयबद्ध करने की पद्धति हस्तगत होने पर आध्यात्मिक शान्ति घटित हो जाती है, मानव-संबंधों में नया मोड़ आ जाता है।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति में हम मन की चार भूमिकाओं के विकास का अभ्यास करते हैं—

१ जागरूकता ३ विचार
२. भावना ४ दर्शन।

हम सत्य और संयम के प्रति जागरूक नहीं होते, इसीलिए मिथ्यादृष्टि, इन्द्रिय और मन की उच्छृंखलता चलती रहती है। हमारा अस्तित्व परिणमनशील है इसीलिए हम बाहरी वातावरण से सम्मोहित होते हैं, सुझाव और वाणी से भी सम्मोहित हो जाते हैं, जैसा निमित्त मिलता है, वैसे ही बन जाते हैं। राग-द्वेष के नाना आवेश भी भावना के स्तर पर उभरते हैं। जैसी भावना होती है, वैसे ही विचार बनते हैं। जैसे विचार होते हैं, वैसा ही हमारा दर्शन होता है। जब हम इन्द्रिय-विषयों के प्रति मूर्च्छित होते हैं, तब भावना, विचार और दर्शन—ये सब इन्द्रिय विषयों के आसपास ही घूमते रहते हैं। यही सारी समस्याओं और दुःखों का मूल स्रोत है।

प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से हमारी मूर्च्छा टूट जाती है, मन सत्य और संयम के प्रति जागरूक बन जाता है। जागरूक मन दूसरे के सम्मोहन को अस्वीकार करने में सक्षम हो जाता है। इस कार्य में मंत्र बहुत सहयोगी बनते हैं। हम शरीर और मन की अस्वस्थता को दूर करने के लिए स्व-सम्मोहन का प्रयोग करते हैं और पवित्र भावना के द्वारा हम निर्मल बन जाते हैं। हमें शरीर और मन का स्वास्थ्य उपलब्ध हो जाता है।

जागरूक चेतना में पवित्र भावना के अंकुर फूटते हैं तब हमारे विचार भी वास्तविक बन जाते हैं। विचारों की वास्तविकता को उपलब्ध कर हम अपने भीतर की यात्रा शुरू करते हैं। हमारी दर्शन की शक्ति स्वयं को देखने में लग जाती है। इस अवस्था में भावना, विचार और दर्शन—ये सब चैतन्य की परिक्रमा करने लग जाते हैं, मन राग-द्वेष से मुक्त हो तटस्थ और प्रतिक्रिया शून्य होने लग जाता है। यही है सारी समस्याओं और दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग।

सुख-दुःख के प्रति हमारा दृष्टिकोण मिथ्या होता है, हमारा मन इन्द्रिय-

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

जन्म : वि० सं० १९७७, आषाढ़ कृष्णा १३, टमकोर (राज०)।

दीक्षा : वि० सं० १९८७, माघ शुक्ला १०, सरदारशहर (राज०)।

निकाय-सचिव : वि० सं० २०२२, माघ शुक्ला ५, हिसार (हरियाणा)।

महाप्रज्ञ उपाधि अलंकरण : वि० सं० २०३५, कार्तिक शुक्ला १३, गंगाशहर (राज०)

युवाचार्य पद : वि० सं० २०३५, माघ शुक्ला ७, राजलदेसर (राज०)

योग से संबंधित आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं—

- मन के जीते जीत
- किसने कहा मन चंचल है
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- जैन योग
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- प्रेक्षा ध्यान।

विभिन्न विषयों पर अब तक आपके लगभग एक सौ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।